धन्य भिक्षु

[सातवाहनकालीन उपन्यास]

लेखक
आरिगपूडि

१९८२

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
रामनगर, नई दिल्ली-११००५५

माननीय मोटूरि सत्यनारायण जी को
सादर समर्पित

निवेदन

भारतीय वास्तु कला में कन्दराओं का विशेष स्थान है। बौद्ध धर्म की तरह कन्दराओं की परम्परा भी भारत से ही सम्भवतः अन्यत्र गई है। मेरा संकेत आदिम जातियों की प्राकृतिक खोहों की ओर नहीं है।

मनुष्य जब गृह बना सकता था तब उसने गुफा क्यों बनाई? कैसे बनाई? उसको शिल्प आदि से क्यों सुशोभित किया? गुफा का क्या उद्देश्य है? इसका धर्म से क्या सम्बन्ध है? कला से क्या सम्बन्ध है? —आदि कई प्रश्न उठते हैं।

इनके अनेक उत्तर हैं। मैंने भी "वन्य भिक्षु" में एक उत्तर दिया है। यह एक कलाकार की जीवनी है, जिसने कन्दराओं का आविष्कार किया था। कलाकार काल्पनिक है।

यह उस समय का उपन्यास है, जिसके बारे में इतिहास प्रायः मूक है—सातवाहन काल। यह आन्ध्र का ज्ञात आदिकाल है।

"वन्य भिक्षु" ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है, इसका इतिवृत भी ऐतिहासिक नहीं है। यद्यपि इतिसास से इसको प्रेरणा मिली है। मैं इसको ऐतिहासिक कल्पना कहूँगा।

पर रुद्रदमन, यज्ञश्री, उतने ही ऐतिहासिक हैं जितने कि धन्यकटक और नासिक। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि इन दोनों में बांधव्य था और उनमें युद्ध भी हुआ था। युद्ध के बारे में विस्तृत जानकारी इतिहास में नहीं है। युद्ध, घटना-क्रम, व तत्सम्बन्धी वातावरण मेरी कल्पना मात्र है।

महायान के प्रवर्तक, नागार्जुन प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य हैं। उन्हीं की प्रेरणा से सातवाहनों ने नागार्जुनकोण्डा बनवाना प्रारम्भ किया था। यह अपनी भव्य कला के लिए देश-विदेश में विख्यात था।

इतिहास में दो नागार्जुन है-सिद्ध नागार्जुन और आचार्य नागार्जुन। दोनों ही परम्परा के अनुसार श्रीपर्वत के वासी थे। यानी वर्तमान नागार्जुनकोण्डा के। इतिहास इस विषय में भी एक मत नहीं कि सातवाहनों ने नागार्जुनकोण्डा बनवाया था इक्ष्वाकु वंश की रानियों ने।

"धन्य भिक्षु" में आचार्य नागार्जुन ही पात्र है। सातवाहनों के यज्ञश्री सप्तकर्णी का ही जिक्र हुआ है।

इस उपन्यास का मुख्य पात्र अग्निवर्मा सर्वथा काल्पनिक है। पर नाम वही है जो उन दिना यवनों में प्रचलित था।

कलाकार का जीवन काल और देश से प्रभावित हो सकता है, पर उसकी आधारभूत प्रेरणाएँ सदा से एक ही रही हैं, अतः अग्निवर्मा का जीवन किसी भी कलाकार का जीवन हो सकता है।

जहाँ कभी नागार्जुनकोण्डा के अवशेष थे, वहाँ आज द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार नागार्जुन सागर का निर्माण हो रहा है। इसके फलस्वरूप नागार्जुनकोण्डा जल-मग्न हो जाएगा।

आशा है कि "धन्य भिक्षु" को भी वही आदर मिलेगा जो मेरे अन्य उपन्यासों को मिला है।

मैं आन्ध्रवासी हूँ, "आरिगपूडि" मेरा उपनाम है।

१३८, शेनोय नगर,
मद्रास-३०

ए० रमेश चौधरी

पत्थर बरस रहे थे—अगल-बगल से, आगे-पीछे से। ली में होय-हल्लाकरती क्रुद्ध भीड़ इकट्ठी हो गयी और अग्निवर्मा त्रस्त, भय-भीत, तिरस्कृत, भागा जा रहा था। कभी वह 'मका के नुक्कड़ प हाँफता-हाँफता साँस लेने खड़ा होता, कभी पेड़ की आड़ से चारों ओर देखता पत्थर बरसते जाते—वह भागता जाता।

भागता-भागता वह गोदावरी के तीर पर पहुँचा—वहाँ एकत्रित भीड़ को चीरता हुआ, थका-माँदा एक पेड़ के नीचे जाकर बैठ गया—भीड़ पीछे रह गई थी। उनके पत्थर उस तक न पहुँच पाते थे। वह नगर की सीमा के बाहर भाग चुका था।

अग्निवर्मा ने अपने धूल-धूसरित कपड़ों को देखा—वे चीथड़े हो रहे थे। टाँग से रक्त बह रहा था। कहीं-कहीं तो बड़े घाव भी हो गये थे। मुँह पर पसीने और धूल की एक परत जम गयी थी—उसकी माथे की शिकनें यकायक शिथिल हुईं, सहसा ओठों पर मुस्कान बनी। उसने सन्तोष की साँस ली।

दूर, नासिक नगर जाग चुका था—दिनचर्या में मस्त था। रंग-बिरंगे वस्त्र पहिने, कन्धों पर कलश रख, सूर्य-रश्मियों का स्वागत करतीं-सी, वक्षस्थल ताने, स्त्रियाँ नदी के घाट पर उतरतीं, स्नान करतीं, वस्त्रों को सँभालतीं, धीमे-धीमे, घाट की सीढ़ियों पर चढ़तीं। अग्निवर्मा ने आँखें मूँद लीं।

वह पत्थर लेकर सोचने लगा—उसी पत्थर ने उसके पैर पर घाव

कर दिया था। वही नासिक, जिसने उसको आश्रय दिया था, रातों-रात उसका शत्रु हो गया था—जिसने प्रेम से हाथ फैलाकर उसको अपनाया था, आज उसे पत्थर फेंककर भगा रहा था।

लम्बी साँस लेते हुए उसने आँखें खोलीं। सामने, कल-कल करती चंचल-वदना गोदावरी बह रही थी—वह काल की तरह बहती जाती थी। जन्मस्थल छोड़े, न जाने कहाँ, कैसे, विधि के वक्र-मार्ग पर चली जा रही थी।

न जाने कब पूर्वज गन्धर्व देश से आये थे—लहरों में, अग्निवर्मा को, अश्वों की पदध्वनि-सी सुनाई देने लगी—लहरें बढ़ती गयीं—अश्व बढ़ते गये, सौराष्ट्र में उनकी लगामें रुकीं। पूर्वज वहाँ बसे—कहाँ सौराष्ट्र, कहाँ नासिक—एक पुष्प इठलाता हुआ नदी पृष्ठ पर द्रुतगति से बहता जाता था।

अशोक के जमाने में, सुनते हैं, यवन सौराष्ट्र में राज्य करते थे—पर अब तो अशोक इतिहास हो चुका है। सौराष्ट्र, सम्पन्न राष्ट्र है—भव्य देश है धन-धान्य का कोश है, पर वह मुझे आजीविका न दे सका—कलाकार की मुलायम अँगुलियों को वहाँ घोड़ों की कड़ी लगामों को पकड़ना पड़ता था—बाजारों का जीवन—नदी-सा, अस्थिर जीवन। अग्निवर्मा सोचता जाता था।

उसके पिता कारीगर थे—उन्होंने पत्थर में जीवन डाला था, वे स्रष्टा थे, पत्थर उनकी हाथों में साँसें लेता था। अग्निवर्मा आहें भरने लगा। पत्थरों में जीवन डालने वाला स्वयं अपने को जीवित न रख सका। उसका रुधिर स्वेद हो गया, और जीवन-मृत्यु का आवरण।

दुर्भिक्ष पड़ा—नदी का जल वाष्प हो गया—भूमि कराहने लगी, मुख खोलकर मेघ को पुकारती—और मेघ, दयार्द्र हो दो आँसू भी न बहा सका, भूमि मूर्छित-सी हो गयी, निष्प्राण। पत्थर पर चलती-चलती छेनी अटक गयी—गिर गयी—प्रतिमा को सजीव करता शिल्पी स्वयं निर्जीव हो गया। उसके पिता इस संसार से उठ गये।

नासिक की ओर उसका ध्यान गया—ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों के कलश प्रातःकालीन प्रकाश में चमक रहे थे। घंटे बज रहे थे। देवी-देवताओं की पूजा हो रही थी—न जाने वह प्रतिमा, कहाँ होगी—अधूरी प्रतिमा। पत्थर की चीज़, पत्थरों में मिल गयी होगी—पूर्ण होने पर वह भी किसी मन्दिर में, आराध्य देवी के रूप में प्रतिष्ठित होती।

अग्निवर्मा पैर मलता हुआ खड़ा हुआ। उसकी हथेली में अब भी वह पत्थर था। नासिक उसका पीछा करता-सा लगता था—नासिक छोड़कर उससे जाते भी न बनता था, वह लड़खड़ाता जाता था—कभी नदी की ओर देखता, कभी शस्यश्यामला भूमि की ओर।

तब उसकी आयु पन्द्रह-सोलह वर्ष की थी, वह एक धनी किसान के यहाँ नौकर था। कितने ही अश्व उसकी निगरानी में पलते थे। मन चाहता था कि पिता के पास शिल्प-कला [का अभ्यास करे। विवशता थी। कलाकार को भी तो भूख-प्यास लगती है। कठिन साधना है, और वरदान देनेवाले भगवान परीक्षा करते-करते फिरते हैं। परिवार के लिए वह धनार्जन करता था।

दुर्भिक्ष पिता को निगल गया। किसान का नाश करता गया—और माता न जाने कहाँ चली गयी। उसकी माता के बारे में बहुत कुछ कहा जाता था। कोई कहता था, वह हिन्दू गणिका थी, कोई कहता वह शक जाति की बहिष्कृत स्त्री थी। मृत है, या जीवित, अग्निवर्मा को नहीं मालूम था।

अग्निवर्मा, थोड़ी दूर चलकर, अनमना-सा, निराश, फिर बैठ गया। उसकी नजरें गोदावरी की लहरों पर थीं—वे सूर्य की किरणों से अठखेलियाँ करती लगती थीं। क्या एक नदी चौबच्चे के पानी को उसी प्रेम से नहीं मिलती जिस तरह सर्व-सुगन्धित तर्पण जल को? अग्निवर्मा ने पूछा। पर समाज नदी नहीं है—वह एक पर्वत प्रान्तीय क्षेत्र है जहाँ हर क्यारी अपनी-अपनी जगह, ऊपर-नीचे बनी हुई होती है। समाज उसकी माँ को न खपा सका, उसको न खपा सका।

वह घर से निकल पड़ा। अनाथ-सा। उस पर कोई जिम्मेदारी न थी। वह कला का अभ्यास करना चाहता था—पैतृक वृत्ति अपनाना चाहता था। नासिक ने उसको आकर्षित किया। नासिक का नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। कभी सातवाहन राजाओं का वहाँ आधिपत्य था, जिनका सिक्का सौराष्ट्र भी मानता था। यहाँ बड़े-बड़े कलाकार थे, शिल्पी थे। कला का आदर होता था, कलाकार सम्मानित थे। वह विद्युत गति से योजनों का अन्तर तय कर गया।

और वही नासिक, आज उसे पत्थर मार-मारकर भगा रहा था—वहाँ कला का आदर होता गया पर मनुष्य को न समझा जाता था; किन्तु क्या मनुष्य को कहीं समझा जाता है? समष्ट तो हमेशा व्यक्ति पर भृकुटी चढ़ाये रहती है—यही सोच अग्निवर्मा के पैर लड़खड़ा कर रुक गए। वह आगे न चल पाता था। वह रह-रह कर नासिक को देखता—जैसे वह कुछ छोड़ आया हो—सूरज ऊपर चढ़ रहा था—नासिक के घेरे में धुआँ और धूल उड़ रहे थे। नासिक व्यस्त था।

गोदावरी भी तो एक-सी नहीं रहती—ऋतु-ऋतु के साथ बदलती है। ग्रीष्म में तपकर क्षीण होती है तो वर्षा ऋतु में स्थूल, चंचल युवती की तरह मदमाती है, शरद् में तपस्या करती-सी लगती है—जब प्राण बदलता है तो कलेवर क्यों न बदलेगा? नासिक के प्राण गोदावरी में हैं—वह भी गोदावरी की तरह बदलता है।

अब यहाँ सातवाहन का राज्य नहीं है। सभी जगह अशान्ति है, अराजकता है, असन्तोष है। समय-समय पर शक आक्रमण करते हैं, जनता अनियन्त्रित हो गयी है। इस दस साल में नासिक बहुत बदल गया है। बदल रहा है पर, अब वह नासिक में शायद न रह पायेगा। नासिक उसका है पर वह सम्भवतः फिर नासिक का न हो पाये—भीड़ पीछा करती-सी मालूम हुई। वह उठकर चल पड़ा।

एकहरा बदन, गौर वर्ण; आकर्षक मुँह—लम्बे, बड़े घुँघराले केश

ऊँचा कद। शान्त, गम्भीर। पीत, जर्जरित वस्त्रों की धूल झाड़ता-झाड़ता धीमे-धीमे वह चलता जाता था।

"यही सामनेवाला नासिक है ?" एक वृद्ध ने उत्कण्ठा से पूछा।

"हाँ हाँ" अग्निवर्मा ने कहा।

"अब हुई इतने दिनों बाद हमारी यात्रा समाप्त।" वह वृद्ध पीछे आती हुई स्त्री की ओर देखने लगा और स्त्री नौजवान की ओर, और नौजवान नवयुवती की ओर। नासिक पास था। उनके मुँह खिल गये थे, जैसे बहुत दिनों बाद कोई साधना पूरी हुई हो। कोई परिवार, नासिक तीर्थ-यात्रा पर जाता लगता था। उनको खुश होता देख अग्निवर्मा मुस्करा दिया।

"आप कहाँ से आ रहे हैं ? अग्निवर्मा ने पूछा।

"प्रतिष्ठान से" वृद्ध ने जल्दी-जल्दी नासिक की ओर कदम बढ़ाते हुए कहा।

"कितने दिन का रास्ता है ?"

"बहुत दिनों का।"

"क्यों वहाँ कोई अकाल पड़ा है ?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"अकाल पड़े तुम्हारे देश में। प्रतिष्ठान में अकाल नहीं पड़ते। वहाँ हमेशा सुभिक्ष है।"

अग्निवर्मा कुछ शर्मा गया। वह यह न सोच पाता था कि बिना दुर्भिक्ष के कोई व्यक्ति अपना घरबार छोड़कर दूर देश जा सकता है। नासिक उसको अब भी बुलाता-सा लगता था। नासिक, जो दूर-दूर के अपरिचित यात्रियों का स्वागत कर सकता है, क्या मुझे हमेशा के लिए तिरस्कृत करेगा ? क्या शाम तक वह मुझे भूल न पायेगा ? अग्निवर्मा सोच रहा था। दो-चार कदम आगे बढ़ा फिर लपकता हुआ लौट पड़ा। वृद्ध के परिवार से जा मिला। उसके पैरों में विशेष स्फूर्ति थी।

नासिक ने बहुतों को अपनाया—पथिकों को अपनाया है और पथ-भ्रष्टों को भी। घण्टा पथ पर आनेवालों को, लुके-छिपे पहुँचनेवालों

को, इसके अन्तर में सभी हैं,—भक्त हैं, भिक्षु हैं, पंडित हैं, पामर हैं, न्यायशील हैं और अपराधी हैं। क्या मैं अपराधी हूँ ? पैदा होने पर सब एक जैसे ही होते हैं। यवन भी वैसे पैदा होते हैं, जैसे शक और ब्राह्मण, फिर भेद क्यों ?

वह सोचता जाता था। घाट समीप आ रहे थे ? अग्निवर्मा के विचार अग्नि-ज्वाला की तरह उमड़ रहे थे—"मेरा क्या अपराध है ? अपराध ? ब्राह्मण गुरु की अविवाहिता पुत्री से सम्बन्ध रखना अपराध है। यह गुरु-द्रोह है। कृतघ्नता है पर क्या पिता का कर्त्तव्य यह नहीं कि शिष्य और पुत्री को विवाहित होने की अनुमति दे ? मैं मैत्रेयी को धोखा नहीं देना चाहता पर मुझे साथ रहने दिया जाय तब न ? मेरे प्रेम के सम्बन्ध में जन्म और गोत्र का क्यों प्रश्न उठता है ? न जाने मैं जन्म से क्या हूँ। नासिक भी विचित्र है। यह अपने प्रेमियों को पत्थरों से भगाता है। क्या मैं वेश बदलकर नासिक नहीं जा सकता ? क्या मैं मैत्रेयी को साथ नहीं ला सकता ? क्या नासिक मुझे पहिचानेगा ? पहिचाने। हो सकता है कि मैं अपराधी हूँ और दण्ड दे। मैं सोच नहीं पाता हूँ।" सोचते-सोचते अग्निवर्मा ने जोर से पैर पटके।

"क्या तुम मुझे अपने कपड़ों का जोड़ा दे सकोगे ?" अग्निवर्मा ने धीमे से हिचकते हुए नौजवान से पूछा।

"क्यों ?" नवयुवक ने पूछा। सब अग्निवर्मा की ओर देखने लगे।

"यों ही" गिड़गिड़ाते हुए अग्निवर्मा ने कहा।

"कोई चोर-चपाटा लगता है—बड़े-बड़े नगरों में ये यात्रियों के पीछे लग जाते हैं—हटो यहाँ से—हमारे पीछे क्यों चले आते हो ?" वृद्ध ने आँखें दिखाते हुए कहा।

परिवार चुपचाप चला जाता था। अनिश्चित-सा, अग्निवर्मा भी हिम्मत बटोरे उनके पीछे चलता था। कभी दो कदम तेजी से चलता, कभी रुक जाता, फिर दौड़ता, उसके मन में विचार पहाड़ी नाले हो रहे थे।

मुँह उठाकर देखा तो घाट सामने था—भीड़ अब भी थी। वृद्ध का परिवार भीड़ में मिल गया था। नासिक में गोदावरी का किनारा हमेशा लोगों से भरा रहता है। आने-जानेवालों का तांता बना ही रहता है। लुका-छिपा वह घाट की दीवार के सहारे आगे-आगे बढ़ा। फिर सहसा काठ की तरह खड़ा हो गया—घाट के किनारे उसके गुरु किसी मूर्ति की परीक्षा कर रहे थे। उनकी नज़र अग्निवर्मा पर पड़ी। उन्होंने एक पत्थर उठाकर उस पर मारा। उनका मारना था कि और भी मारने लगे। पत्थरों की बौछार होने लगी। अग्निवर्मा सिर पर पैर रख उल्टे रास्ते भागा।

काफ़ी दूर जाकर उसने साँस ली। उसके हाथ में अब भी एक पत्थर था। वह सोचता जाता था "विना गढ़े पत्थर की कोई कीमत नहीं है" उसने हाथ के पत्थर को उल्टा-सीधा करके देखा। "गढ़कर वह प्रतिमा बनती है, आराध्य वस्तु बनती है।" उसने पत्थर लेकर नदी में फेंक दिया। वह सीना तानकर चलने लगा। "मैं भी कुछ बनूँगा, कुछ होकर रहूँगा—परीक्षा-काल है," अपमान में उसको ज्ञान बोध-सा हुआ।

"ओ नासिक ! तुम पत्थर बरसाओ। पहाड़ भी नदी के रास्ते पर पत्थर डालता है पर नदी बहती जाती है।" नासिक की ओर हाथ जोड़कर वह खड़ा हुआ। फिर झट मुड़कर नदी के किनारे-किनारे नदी की तरह अग्निवर्मा चल दिया।

२

अग्निवर्मा ने पीछे मुड़कर न देखा। वह कभी सिर नीचा करता और कभी वक्षस्थल ऊंचा कर गोदावरी के किनारे चलता जाता। यकायक उसके लिए नासिक एक चित्र की पृष्ठभूमि-सा हो गया—गौण-सा—एक धधकती स्मृति, जो धधकती-धधकती कभी राख होनी थी।

थका मांदा, भूखा-प्यासा, विक्षिप्त-सा, वह चलता गया। नासिक का सामीप्य भी अब अखरता-सा लगता था। उसे दूर क्षितिज में कोई लक्ष्य दीख गया था, जीवन की कोई दूसरी तह उसके सामने खुलती-सी लगती थी। अगर बरबस कभी नासिक की ओर आकर्षित भी होता, तो झट सँभलकर आगे कदम बढ़ाने लगता। उसकी चाल निर्लक्ष्य की चाल न थी—निराशा का लड़खड़ाना भी न था।

पत्थर फेंकने से जलाशय तरंगित हो उठता है—तरंगें आपस में होड़ करती एक से एक आगे बढ़ती हैं। अग्निवर्मा के मन की अवस्था भी यही थी। उसका अपमान उसके मन को मथ-सा रहा था। वह अब कलकल करती, बढ़ती, द्रुत गोदावरी के साथ था। उसको नासिक जलाशय-सा लग रहा था, जबकि उस पर बहने की धुन सवारी थी।

कुछ दिनों बाद अलसाने के लिए एक पेड़ के नीचे वह बैठा तो पश्चिम में सूर्य मन्दहास करता मदमाता, क्षितिज में सिन्दूर छिड़क रहा था। वह सहसा रुक गया। अग्निवर्मा की दृष्टि नासिक की ओर गई—उस पवित्र प्राचीन नगरी के गगनचुंबी मन्दिर, कलश, लम्बे-लम्बे घाट,

जन-समुदाय—हो हल्ला करता नासिक कहीं बहुत दूर रह गया था, दीखता भी न था। पेड़ के सहारे सिर रख उसने आँखें मींचीं। सन्तोष की साँस ली।

थकान के कारण अंग-अंग पत्थर हो गये थे। नींद भी न आती थी—चलना भी मुश्किल था। भूख इतनी कि पेट में गोदावरी का पानी भी खौल-खौलकर बाष्प-सा हो गया था। वह कराह रहा था। भूख बढ़ती जाती थी। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी—आस-पास कोई ग्राम न था। आते-जाते आदमी भी न दीखते थे। कहीं दूर—गौवों का समूह धूल उड़ाता जा रहा था। गोधूलि वेला थी—पेड़ों की पंक्ति के पीछे धुआँ उड़ रहा था—ग्राम की कल्पना की जा सकती थी—पर दूरी का अनुमान कर अग्निवर्मा का माथा नीचे झुक गया।

वह नदी में उतरकर जल्दी-जल्दी पानी पीने लगा—जैसे पानी से भूख मिट जाती हो। भूख मिटे या न मिटे सान्त्वना अवश्य मिलती है। वह उठ नदी का किनारा छोड़कर चलने लगा। नासिक के समीपस्थ हरे-भरे खेत खतम हो चुके थे। चारों ओर अब ऊबड़-खाबड़ जमीन थी—रह-रहकर छोटी-छोटी गोल पहाड़ियाँ उठ खड़ी होती थीं। खेत उपेक्षित मालूम होते थे।

समय बीतता जाता था—ज्यों-ज्यों वह चलता जाता, वह धूल जमती जाती—अन्धकार बढ़ता जाता। उसके पैरों में चुस्ती आती जाती। भूख और भय उसको कहीं खींचे ले जा रहे थे।

बेरियों का जंगल था—पर बेरियाँ न थीं। खरगोश, मयूर आदि, इधर-उधर भटकते-भटकते, निकलते और चले जाते। जंगल की नीरवता में एक विचित्र प्रकार की झंकार शुरू हो गई थी—मूक पेड़-पत्ते, तुतला-तुतलाकर बोलने का प्रयत्न करने लगते थे। अग्निवर्मा के हृदय की धड़कन बढ़ती जाती थी।

उसने अपना बाल्य-काल वन-वनान्तर में काटा था। नीरव एकान्त

में, मूक अश्वों के साथ मूक की तरह। पर वह जमाना कभी का गुजर चुका था। वह अब नगरवासी था। नगर की सुविधा व सुख से परिचित था। जंगल की कँटीली-कँकरीली ज़मीन उसके पैरों को छलनी बना रही थी—उसे रोने को जी चाहता, पर दूर टिमटिमाती रोशनी को देखकर वह लड़खड़ाता जाता।

दो-तीन झोंपड़े थे—बड़े-बड़े दालान; गाय-बैल बँधे थे। झोंपड़े के पास पाँच-छः घोड़े थे। मुर्गियाँ इधर-उधर फिर रही थीं। पेड़ों के झुरमुट के नीचे—एक विशाल झोंपड़ा। किसी सम्पन्न किसान का परिवार शायद वहाँ रहता था—घर के चारों ओर काँटों से ऊँची चारदीवारी-सी बनायी गयी थी। छोटा फाटक लगा था, और फाटक के पास एक नवयुवक लट्ठ ले पहरा देता लगता था।

अग्निवर्मा को देखते ही नवयुवक ने ज़ोर से आवाज़ लगायी। पश्चिम की तरफ़ से शीघ्र ही, घोड़ों की ध्वनि आने लगी—अँधेरे में—थोड़ी दूर अग्निवर्मा को कई झोंपड़े दिखाई देने लगे। उसे ढाढ़स भी हुआ और भय भी—घोड़ों की टपाटप निरन्तर समीप आती जाती थी।

"यह किनका घर है ?" कुतूहलवश और अपने को दिलासा देने के लिए अग्निवर्मा ने नवयुवक से पूछा।

"ग्रामिक का—तुम कौन हो ?" नवयुवक ने पूछा।

"मैं...मैं...कुछ भी नहीं" अग्निवर्मा को कुछ न सूझा कि क्या कहे। वह हड़बड़ाता हुआ, चारों ओर देखने लगा—उसकी बगल में ही तीन-चार भारी-भरकम आश्विक, हट्टे-कट्टे अश्वों की लगाम थामे खड़े थे। उनको देखते ही अग्निवर्मा न जाने क्यों अपने को अपराधी समझने लगा। आश्विक उसको तेज़, तीखी नज़रों से देखते जाते थे।

"कहाँ से आ रहे हो ?" एक आश्विक ने पूछा।

"नासिक से..." अग्निवर्मा ने कहा।

"क्यों ?" आश्विक ने पूछा।

"क्यों ?..." अग्निवर्मा प्रश्न को दुहराता हाथ मलने लगा। वह इक्का-बक्का था। उसने आतिथ्य की प्रतिक्षा की थी—न कि इस परीक्षा की।

"क्या मैं ग्रामिक से मिल सकता हूँ ?" अग्निवर्मा ने थोड़ी देर बाद साहस बटोरकर कहा।

"मिल क्या सकते हो ? तुम्हें उनसे मिलाया जाएगा।" आश्विक उसको फाटक में से धकेलने लगे। वे आपस में कुछ कहते जाते थे। अग्निवर्मा वह सुन, सहम गया।

एक पेड़ के नीचे, खटिया पर, मृगछाल डाले एक वृद्ध बैठे थे। उनकी बगल में एक सफ़ेद सुडौल बछड़ा बँधा था—सामने पड़ी हरी घास चाट रहा था। पिछवाड़े में छप्पर था—छप्पर में से प्रकाश आ रहा था—घर की स्त्रियाँ तब भी व्यस्त थीं, शायद अधिक समय न हुआ था।

"क्या मुझे रात के लिए आपके यहाँ शरण मिल सकेगी ?" इससे पहिले कि आश्विक अग्निवर्मा की शिकायत करते, अग्निवर्मा ने स्वयं कहा। आश्विक आँखें बड़ी-बड़ी करके उसकी ओर देखने लगे।

"हूँ..." ग्रामिक गुर्राये "इन्हें छोड़ दो" उन्होंने लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा। ग्रामिक गम्भीर व्यक्ति थे। शक्ति शाली। ओजस्वी ग्राम का उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर हल्का मालूम होता था।। उनकी दृष्टि बींधती प्रतीत होती थी।

"अब समय बदल रहा है—अतिथि-सेवा हमारा धर्म है, कर्त्तव्य है; पर पहिले हमें यह जानना होगा कि तुम हमारे आतिथ्य के पात्र हो कि नहीं—" ग्रामिक कह रहे थे।

"जी हाँ, जी हाँ, हमें दाल में कुछ काला मालूम होता है।" आश्विकों ने कहा। नवयुवक ने अपना मोटा डंडा ज़मीन पर पटका।

"कुछ दिन पहिले; यहाँ एक अतिथि आया—और दो दिन बाद

अपने साथ इतने अतिथि लाया—ग्रामिक के गम्भीर मुँह पर हल्की मुसकान आई—"कि हम कठिनाई से नष्ट होते-होते बचे। गाँव के कई झोंपड़े जला दिये गए। मन्दिर-मूर्ति तहस-नहस कर दिए गए। यहाँ तक कि मेरा घर भी राख कर दिया गया। अब गाँव के बाहर रहता हूँ ताकि इससे पहिले मेरे गाँव को कोई छुए मैं ही ग्राम की रक्षा में मर मिटूँ। अच्छे दिन नहीं हैं।—तुम कौन हो ?"

"मैं···मैं···मूर्तियाँ···" अग्निवर्मा हकलाने लगा।

"मूर्तियाँ बनाते हो ?" ग्रामिक ने गूँजती हुई ध्वनि में कहा—"हमारा पिछला अतिथि कहता था कि वह पशु-वैद्य था। उसके हाथ पशु तो मरे ही, आदमी भी मारे गये। समझ में नहीं आता कि किसका विश्वास करें और किसका विश्वास न करें। अब सातवाहनों का राज्य नहीं है कि रक्षा का भार राजा को सौंप हम स्वयं हाथ पर हाथ दिये बैठे रहें"—वृद्ध देख तो अग्निवर्मा की ओर रहे थे, परन्तु वे सम्बोधन अपने ग्रामवालों को कर रहे थे।

"तुम आ कहाँ से रहे हो ? शक्ल-सूरत से तो तुम कलाकार नहीं मालूम होते—या इस जमाने में कलाकारों की भी यह हालत हो गयी है कि उनको लहू-लुहान शरीर को चीथड़ों से ढाँपना पड़ता है"—वृद्ध ने कहा। आश्विक एक दूसरे को देखकर मुस्कराने लगे।

"नासिक से·········" अग्निवर्मा ने दबी आवाज़ में कहा।

"क्यों ?—ग्रामिक ने पूछा।

"क्यों···?" अग्निवर्मा स्वयं अपने से प्रश्न कर रहा था ; पर ग्रामिक ने इसको धृष्टता समझी। वे अपनी बड़ी आँखों को और बड़ी करने लगे। अग्निवर्मा में कँपकँपी पैदा हो गई।

"मैं पूछता हूँ, क्यों···?" ग्रामिक ने रोबीले स्वर में ज़ोर से पूछा।

"क्यों···?···कि शायद मुझे नासिक नहीं चाहता"—अग्निवर्मा कुछ कहने का प्रयत्न कर रहा था, पर क्या कहता ? अगर कहता भी तो, उस परिस्थिति में, उसके लिए कौन सहानुभूति दिखाता।

"अगर नासिक ही नहीं चाहता है तो क्या हमारा गाँव तुम्हें चाहता है—? नासिक में ही हर कोई रह सकता है—बुरे-भले सब—यह गाँव नासिक नहीं है—न नासिक का एक मोहल्ला ही है" ग्रानिक नें अपना यज्ञोपवीत कन्धे पर से खींचते हुए गर्व से कहा।

"जी, मैं केवल यहाँ रात भर रहना चाहता हूँ। सवेरे होते ही चला जाऊँगा।"—अग्निवर्मा काँपती-सी आवाज़ में गिड़गिड़ा रहा था।

"सवेरे चले जाओगे, और पाँच-दस दिन में अपना गिरोह लेकर लौटोगे। रुद्रदमन का भी क्या राज्य है कि प्रजा को अपनी रक्षा स्वयं करनी पड़ती है—चैन से खेती नहीं की जा सकती, व्यापार नहीं किया जा सकता। जिसकी लाठी उसकी भैंस। छोटी-छोटी बात पर ग्राम नष्ट कर दिए जाते हैं। ब्राह्मण होना भी दोष है। देखें इनकी भी कब तक चलती है। कहाँ जाओगे ?" वृद्ध ने पूछा।

"कहाँ ?" अग्निवर्मा ने उसका प्रश्न अनजाने दुहराया।

"फिर वही—तुम पागल तो नहीं हो···" वृद्ध ने पूछा। अग्निवर्मा कोई जवाब न दे सका। शायद उसने सोचा होगा कि अगर पागल ही हो जाता तो अच्छा होता···।

"कहाँ जा रहे हो ?" वृद्ध ने अपना प्रश्न द्विगुणित ध्वनि में दुहराया।

"मैं प्रतिष्ठान की ओर चला हूँ—सुना है, वहाँ सातवाहन···" अग्निवर्मा कह रहा था।

"किस ज़माने में हो—सातवाहन तो और दूर चले गए हैं। वे धन्व कटक में हैं—और दूर है—अकेले हो···?"

"जी···" अग्निवर्मा ने कहा। वह सिर ऊँचा करके वृद्ध ग्रानिक की ओर देखने लगा। क्योंकि उनका स्वर बदल गया था। ग्रामिक कुछ याद करते-से लगते थे। शायद कभी उन्होंने सातवाहनों का नमक खाया था।

"कौन हो, तुम ब्राह्मण हो ?—" वृद्ध ने पूछा ।"

"कौन-कौन···नहीं नहीं···मैं···मैं" अग्निवर्मा खून से सने अपने पैरों को सहलाने लगा। उसे पत्थरों की बौछार सहसा याद हो आयी। पर एक लम्बी आह छोड़कर वह खड़ा रहा।

"तो कौन हो ?···"

"कौन हो···मैं शक हूँ···नहीं नहीं मैं यवन हूँ" अग्निवर्मा इतना भयभीत था कि न ठीक सोच ही पाता था, न कह ही पाता था।

"फिर तुम्हारी यह हालत ? तुम्हीं लोगों का तो राज्य है। रुद्रदमन भी तो तुम्हारा ही है—" वृद्ध कहते जा रहे थे।

"मुझे कुछ नहीं मालूम—मैं तो पत्थरों के संग रहता हूँ···"

"हाँ···तुम्हारे रुद्रदमन के राज्य में पुरुष भी पत्थर हो रहे हैं—चाहो तो कह देना···" वृद्ध ने कहा।

वृद्ध को दूसरा अर्थ लेते हुए देख अग्निवर्मा ने तुरन्त कहा—"नहीं, नहीं, मेरा मतलब यह न था—मैं तो पत्थरों को गढ़ता हूँ—मैं तो यह भी नहीं जानता कि कौन राजा है, और कौन नहीं··· है"

"हूँ···क्या तुम अच्छी मूर्तियाँ बना लेते हो···?" वृद्ध ने पूछा।

"हाँ···हाँ···"

"पर तुम्हारा क्या विश्वास ?"

"विश्वास न हो तो काम करवाकर देख लीजिए।" अग्निवर्मा ने झट कहा। उसको सहसा अपना वजन इतना हलका लगा जैसे घटकर आधा हो गया हो।

"हूँ···खैर, तुमने शरण माँगी है—शरण न देना हमारे धर्म के विरुद्ध है। तुम रहो—देखा जाएगा।" अग्निवर्मा की ओर देख उन्होंने आश्विकों से कहा—"इसे अतिथिशाला में ले जाओ। खिलाओ, पिलाओ। नये कपड़े दो पर यह कहीं जाने न पाए। सख्त पहरा रहे। अब तुम जा सकते हो।" ग्रामिक ने आश्विकों से कहा। वे अपने साथ अग्निवर्मा को ले गए।

उसी अहाते में थोड़ी दूर पर अतिथिशाला थी। उसमें कोई न था। चिराग न था। फ़र्श भी साफ़ न था। कई दिनों से वहाँ कोई आदमी न ठहरा था। चारों ओर लम्बे-लम्बे पेड़ थे। चाँदनी छिटक रही थी। वह खा-पीकर आराम से लेट गया। मैत्रेयी के सपने देखने लगा।

३

पूर्व में अभी तक लाली न आई थी। पर सारा गाँव दिनचर्या में मग्न था। ब्राह्मणों का गाँव था, ब्राह्ममुहूर्त में ही जागता था। अग्निवर्मा अभी गाढ़ी निद्रा में था, उसे जगाया न गया था।

जब वह उठा तो दीवार के झरोखे में से सूर्य की तीक्ष्ण किरणें आ रही थीं—दरवाज़े में से कटहल के पत्तों की लम्बी परछाईं घर के अन्दर पड़ रही थी—रात की मन्द-मन्द हवा, अब स्तब्ध-सी हो गयी थी।

वह आँखें मलता हुआ उठा। समीप कोई न था। वह घर, जो रात में वह भली-भाँति देख न सका था, अब स्पष्ट दीख रहा था। छोटा-सा कमरा—एक तख्त, बिस्तर, पास में एक तिपाई, उस पर फल, पुष्प। गोबर से लिपा साफ़ फर्श, नंगी दीवारें, कोने में लम्बी सुराही। उसने फिर सोना चाहा पर पर बरबस हड़बड़ाता हुआ उठ बैठा, जैसे कुछ याद आ गया हो।

वह घर से बाहर निकला—वहाँ कोई न था। कटहल का पेड़ था—पेड़ के नीचे पाँच-छः बर्तन थे, जहाँ रात में दो-तीन स्त्रियाँ काम कर रही थीं,—दो-चार कौवे कुछ चुग-चुगकर खा रहे थे। बड़ के पेड़ के नीचे बूढ़ा भी न था। आस-पास के घरों के दरवाज़े बन्द थे। बाहर कोई गौ-भैंस भी न दिखाई दी। अग्निवर्मा का माथा ठनका। वह थोड़ी दूर बाहर गया। दूरी पर गाँव में कोलाहल हो रहा था, धूल उड़ रही थी। फाटक पर वह नवयुवक भी न था, जिससे रात को उसे

रोका था। वह घबराने लगा। एक क्षण उसने चाहा कि वहाँ से वह भाग निकले, पर न जाने क्या सोचकर वह सहम गया और घर के अन्दर जाकर उसने किवाड़ बन्द कर लिये।

थोड़ी देर में अश्वों की टपाटप सुनाई पड़ने लगी। अग्निवर्मा को इतनी भी उत्सुकता नहीं हुई कि किवाड़ खोलकर देखे। वह झरोखे में से आते हुए प्रकाश की ओर एकाग्र दृष्टि से देख रहा था। घोड़ों की ध्वनि समीप आयी, वह भयभीत हो सिमटकर बैठ गया। कई घोड़े थे और कई घुड़सवार उसकी परिचित भाषा में ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे। उसकी बाहर जाने की इच्छा प्रबल हुई, पर वह उठने का भी साहस न कर सका। उसको भय था कि वे उसको लेने के लिए आए थे।

किवाड़ न खुला, घोड़े जिस तरफ़ से आये थे, धीमे-धीमे उस तरफ़ जा रहे थे। उसने किवाड़ के छेद में से देखा कि घोड़ों पर हट्टे-कट्टे सैनिक बैठे हुए थे। उनकी वेशभूषा विचित्र थी। उनके साथ गाँव का वृद्ध मुखिया शान से चल रहा था—वह फाटक तक उनके साथ गया, फिर रुक गया। आश्विकों ने घोड़ों को एड़ लगायी और हवा से बातें करने लगे।

अग्निवर्मा बाहर चला आया और कटहल के पेड़ के सहारे खड़ा हो वह आश्विकों की ओर देखने लगा। एक घोड़े पर उसे दो व्यक्ति नज़र आये—सम्भवतः एक स्त्री थी—वह चिल्ला रही थी, चीख रही थी। घुड़सवार के हाथों में से वह छूटने का प्रयत्न कर रही थी। पर आश्विक उसको लगाम की तरह दृढ़ता से पकड़े हुए था।

अग्निवर्मा को लगा, जैसे कोई मैत्रेयी को उड़ा लाया हो, उस स्त्री की शक्ल-सूरत मैत्रेयी-जैसी थी। वह दो-चार कदम आगे बढ़ा, पर वृद्ध ग्रामिक को आता देखकर झट रुक गया। इतने में आस-पास के घरों के किवाड़ भी खुल गए। स्त्रियाँ प्रातःकालीन कार्य करने लगीं। गाँव के और नवयुवक भी इकट्ठे हो गए। अग्निवर्मा को यह

जानते हुए देर न लगी कि जब वह सो रहा था तो ग्राम में कोई असाधारण घटना घट चुकी थी। एकत्रित लोगों की मुख-मुद्रा से यह स्पष्ट था।

"क्या यह तुम्हारे आदमी थे ?" वृद्ध ने मेरी पीठ थपथपाते हुए पूछा। उनकी आवाज़ में वह गम्भीरता व रौब न था, जिसको सुनकर पिछली रात मुझ में कँपकँपी पैदा हो गई थी।

"नहीं तो। मैं इन्हें जानता भी नहीं हूँ।" अग्निवर्मा ने डरते हुए काँपती आवाज़ में कहा।

"पर ये तुम्हारे लोग ही हैं। यवन। नहीं जानते ?" ग्रामिक ने अपना प्रश्न दुहराया। पर उनकी आँखें यह कहती लगती थीं कि उनको अग्निवर्मा पर किसी प्रकार का कोई सन्देह न था। उनके ओठों पर हल्की मुस्कराहट भी थी।

"जी, नहीं—मेरा विश्वास कीजिए, मैं इन्हें बिल्कुल नहीं जानता। मेरा सैनिकों से कोई सम्बन्ध नहीं है—विश्वास कीजिए।" वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाया।

"हम विश्वास करते हैं। हमने तुम्हारी परीक्षा ले ली है। आओ, बेटा, आओ।" ग्रामिक ने प्रेम से फिर मेरी पीठ थपथपायी। वे जाकर, बड़ के नीचे अपनी खटिया पर बैठ गये। उनका तपःपूत शरीर, प्रातः-कालीन प्रकाश में चमचमा रहा था। आँखों में चमक थी। आवाज़ में आत्मीयता का लहजा था। अग्निवर्मा का कल्लोलित मन शान्त हुआ। आश्विक और मैत्रेयी का चित्र भी मन से जाता रहा। अपने को उसने सान्त्वना दी। "मैत्रेयी, नासिक से कैसे आ सकती है ? उसके पिता तो राजभक्त हैं। नहीं, यह मेरी आँखों का भ्रम है।"

पास खड़े नवयुवक भी उसकी ओर उत्सुकता से देख रहे थे। उनके हाव-भाव में, वह कठोरता न थी, जो उसने पिछली रात देखी थी। वे भी ग्रामिक की तरह यकायक बदल गए थे। अग्निवर्मा को इसका कारण साफ़-साफ़ न मालूम हो रहा था।

"हमने तुम्हारी परीक्षा ले ली है"—ग्रामिक कह रहे थे और अग्निवर्मा हक्का-बक्का खड़ा था, उसे कुछ समझ में न आ रहा था। दूसरों को देखने से भी लगता था, जैसे उन्हें भी कुछ न मालूम हो। ग्रामिक मुस्कुराते जाते थे।

"मैं आपके आतिथ्य के लिए कृतज्ञ हूँ—आज्ञा हो······तो······" अग्निवर्मा कह रहा था, उसने समझा कि उसकी परीक्षा हो गयी और अब उसे जाने के लिए कहा जा रहा है। उसे कहते-कहते रुकना पड़ा क्योंकि ग्रामिक इस बीच में पूछ रहे थे—"तो क्या तुम मूर्ति नहीं बनाना चाहते ?"

"मूर्ति···?" अग्निवर्मा ने आदतन प्रश्न दुहराया।

"हाँ, हाँ, मूर्ति···" ग्रामिक ने कहा।

"जरूर, अवश्य, यदि मौका मिले।" अग्निवर्मा ने कहा।

"मिलेगा, अच्छा !" ग्रामिक ग्राम की ओर देख रहे थे। आश्विक काफ़ी दूर जा चुके थे। उनकी धूल भी क्षितिज में न दिखायी देती थी। "तुम निश्चिन्त होकर रहो, यदि यहाँ रहना चाहते हो। हम लोगों में यह परम्परा नहीं है कि शरणागतों को आश्रय न दें। उनको अतिथि की तरह आश्रय देना हमारा कर्त्तव्य है, धर्म है। फिर भी मैंने निश्चय कर लिया था कि यदि वे तुम्हारे बारे में कुछ पूछते तो मैं सब कुछ साफ़-साफ़ बता देता। पर उन्होंने न पूछा—यह जानकर मुझे सन्तोष हुआ, पर यह देखकर मुझे और भी सन्तोष हुआ कि तुम उनसे जाकर स्वयं न मिले, यद्यपि तुम्हारे किवाड़ खोल दिये गये थे, और पहरा भी हटा दिया गया था। तब मुझे विश्वास हो गया कि तुम सैनिकों से सम्बन्धित नहीं हो।" ग्रामिक कहते हुए नवयुवकों की ओर देखने लगे। वे अब भी चकित थे—ग्रामिक का संकेत न समझ पाये थे। अग्निवर्मा चकित था कि बिना उसके जाने, सोते-सोते ही उसकी परीक्षा हो गई थी।

"अब तुम जान सकते हो कैसे अशान्त वातावरण में हम अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस राज्य में न प्रजा सुरक्षित है, न मुखी

ही। राजा की राज्यलोलुपता के कारण प्रजा तंग आ गई है। हमें भी अपने ढंग से जीने का अधिकार है"—ग्रामिक इस प्रकार कहते जा रहे थे मानो कुछ सोच रहे हों और किसी निश्चय पर आने का प्रयत्न कर रहे हों।

"ये लोग आए किसलिए थे ?" एक नवयुवक ने उचककर पूछा।

"सेना बटोरने। मैंने साफ़ इन्कार कर दिया। राजा रुद्रदमन सातवाहनों पर हमला करने की सोच रहे हैं, ऐसा मुझे मालूम हुआ है। यह ग्राम, जिसने सातवाहनों का नमक खाया है, कभी भी उनके विरुद्ध एक भी सैनिक न भेजेगा, एक शस्त्र न देगा। यह धाँधली बहुत दिन तक नहीं चल सकती। कहीं न कहीं तो सीमा होनी चाहिए। चाहे कुछ भी हो मैं जब तक जीवित हूँ, यह न होने दूंगा। उन्होंने डराया, धमकाया, समझाया-बुझाया, पर मैं अपनी बात पर अड़ा रहा।"

"अगर वे अपनी सेना ग्राम पर हमला करने के लिए भेज दें तो......?" ग्राम के एक वृद्ध ने गम्भीरतापूर्वक पूछा।

"यह नहीं होगा, आप निश्चिन्त रहें। जब राजा रुद्रदमन अपनी सारी शक्ति समेटकर सातवाहनों पर आक्रमण करने जा रहे हैं, वे यह कभी न चाहेंगे कि उनके राज्य में कहीं भी अराजकता रहे, या विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित होती रहे। फिर हमारा ग्राम तो सीमा पर है। वे आसानी से हमें तहस-नहस भी नहीं कर सकते। ब्राह्मणों का गाँव है। उनके सैनिक ब्राह्मण-हत्या का पाप न करना चाहेंगे। हाँ, यदि हमारा सर्वनाश भी हो जाए तब भी हम सातवाहनों के विरुद्ध की गई किसी भी कार्रवाही में कभी भी भाग न लेंगे। देखें क्या होता है ? पर इतनी बात जरूर साफ़ है।" ग्रामिक चुप हो गए मगर आवेश में उनका सिर तब भी काँप रहा था।

अग्निवर्मा ने घर के किवाड़ों की ओर देखा। वे खुले थे। परन्तु तब वह समझ सका कि वे क्यों बन्द किये गये थे और क्यों सवेरे-सवेरे सारी जगह सुनसान लगती थी।

"पर······" अग्निवर्मा ने कुछ कहना चाहा। ग्रामिक की नज़र उस पर गयी। "कहो—कहो, क्या कहना चाहते हो···?" उन्होंने पूछा।

"पर······वे साथ एक स्त्री भी लाये थे।"

"हाँ-हाँ—सैनिक हैं—जो चाहा सो करते हैं और कोई कुछ नहीं कर पाता है। स्त्रियों का सतीत्व खतरे में है। नवयुवकों, अब तुम जान सकते हो कि तुम्हारा कितना बड़ा उत्तरदायित्व है।" ग्रामिक कुछ सोचने लगे—और एकत्रित व्यक्ति गम्भीर मुद्रा में दूसरों की ओर देखने लगे। वे स्तब्ध-से थे। उस असाधारण समय में यह एक बहुत ही असाधारण घटना थी। वे किंकर्तव्यविमूढ़ थे।

"मैं समझता हूँ कि यह प्रारम्भ मात्र ही है। जब तक अपने नवयुवक सेना में न भेजेंगे—रुद्रदमन के आदमी इस तरह आते ही रहेंगे—पर हमारा अन्तिम निश्चय है। सावधान रहो, बेटो! साहस से काम लो।" ग्रामिक ने कहा। सब उनको उठते देख तितर-बितर हो गए।

अग्निवर्मा के लिए यह संयोग की बात थी कि यह घटना घटी। अथवा, न जाने उस पर क्या बीतती होती। पहिले तो वह ग्राम में रहना भी न चाहता था। पर ग्रामिक का साहस और निश्चय देखकर वह अब ग्राम छोड़कर जाना नहीं चाहता था। उसकी धमनियों में भी यवनों का रक्त था। पर वह रक्त अभी इतना कलंकित न था कि सत्य और साहस के कार्यों से न प्रभावित हो।

वह अब तक भागता रहा था—कहाँ सौराष्ट्र, कहाँ नासिक, कहाँ गोदावरी। पर भागता आदमी भी कभी टिकता है। "क्या मैं इस गाँव में रह जाऊँ-? "क्यों, नहीं, नासिक, मैत्रेयी, मूर्ति, सातवाहन, प्रतिष्ठान, वन्य कटक, जाने कितनी ही बातें, उसके सामने तेज़ी से चक्कर काट रही थीं—वह निश्चय न कर पा रहा था।

'बेटा—इन्हें अपना गाँव दिखा लाओ।" ग्रामिक ने अपने पुत्र से कहा—"इनके भोजन आदि का भी प्रबन्ध करो।" ग्रामिक बछड़े का गलकम्बल सँवारने लगे, और अग्निवर्मा नवयुवक के साथ चल दिया।

४

ग्राम एक छोटे-से टीले पर था। उसका प्राचीन इतिहास था। कितने ही गाँव उस टीले पर बसे और कितनी ही बार वे अश्वों की पादधूलि हो गए, तहस-नहस कर दिए गए, पर ग्राम ने अपना अस्तित्व बनाए रखा, नाम कायम रखा। ग्राम के निर्माण में ग्रामवासियों का परिश्रम व आग्रह स्पष्ट दीख पड़ता था।

अग्निवर्मा के प्रति ग्रामिक का प्रेम-व्यवहार देखकर प्रायः सारे गाँव का रुख बदल गया था। वह जहाँ-जहाँ भी गया उसका स्वागत हुआ। संभवतः ग्राम उसको अपनाने की कोशिश कर रहा था। पर अग्निवर्मा का मन कल्लोलित था, अनिश्चित। भविष्य उसको अध्रुव-सा लग रहा था। मुस्कराते चेहरों के बीच में भी वह खोया-खोया फिर रहा था।

ग्रामिक का लड़का उसको किसी और को सौंपकर जरूरी काम पर कहीं चला गया। उसका नाम धनंजय था। डील-डौल नौजवान। न जाने क्यों वह अपने पिता की तरह उसे पसन्द नहीं कर रहा था। क्योंकि उसके पिता की उस पर कृपा-दृष्टि पड़ गई थी, हो सकता है कि इसलिए वह उदासीन हो गया हो।

ग्राम छोटा था और अभी बन रहा था। कई जगह पुरानी ईंटों और बाँसों से नये घर बन चुके थे···छोटे-छोटे घर, फूस के छप्पर, साफ़-सुथरे। कई जगह काम हो रहा था। स्त्रियाँ भी मदद कर रही थीं। अग्निवर्मा नवागन्तुक के रूप में उनमें विशेष कुतूहल पैदा कर रहा था। उसमें एक विचित्र आकर्षण भी था, देखने वालों की आँखें बरबस घूरने लगती थीं।

पिछले दिन सैनिक आये···ग्राम में कुहराम मचा गए। पर ग्राम में कोई परिवर्तन न हुआ था। हाँ, बड़े-बूढ़े इसके बारे में अवश्य चिन्तित थे, लोक निर्माण कार्य यथापूर्व चलता लगता था। काम करने वाले अपने कार्य में मस्त थे···विपदाओं के विषय में अज्ञात-से। अग्निवर्मा को आश्चर्य हुआ।

ग्राम के एक कोने में, उत्तर की ओर जहाँ टीला सबसे अधिक ऊंचा था, चारों ओर बड़े-बड़े पत्थर जमा किये गए थे। एक पेड़ के नीचे एक वृद्ध लठिया लेकर बैठा था—और सामने कई लोग काम कर रहे थे। कोई पत्थर गढ़ रहा था, कोई दीवार चिन रहा था। कोई उनकी मदद कर रहा था। सबका अपना-अपना काम था। उत्सुकतावश अग्निवर्मा भी वहाँ जा खड़ा हुआ।

"यहाँ क्या बन रहा है?" अग्निवर्मा ने वृद्ध से पूछा।

"मन्दिर, मण्डप···" वृद्ध ने कहा।

"पहिले यहाँ क्या था?"

"छोटा-सा मकान जहाँ पूजा-पाठ होता था···सभा-समारोहों का आयोजन करते थे···उन मूर्ख सैनिकों ने उसको नष्ट कर दिया। उन्होंने समझा कि यह मकान भी अन्य मकानों की तरह हैं। समझ-समझ का अन्तर है।"

"तो अब क्या यह पक्का, पत्थर का होगा?······"

"हाँ···! मन्दिर पक्के ऊँचे हम इसलिए नहीं बनाते हैं कि भगवान् को सरदी-गर्मी ज्यादह लगती है···ऊँचे-ऊँचे कलश इसलिए नहीं रखे जाते कि मानव अपनी सभ्यता भगवान् को दिखाये, घंटे इसलिए नहीं बजाए जाते कि भगवान् बहरे हैं···पर ये सब मन्दिर का अपना व्यक्तित्व बनाते हैं···उसे और भवनों से भिन्न बनाते हैं। ये सब वस्तु और उपकरण एक वातावरण बनाते हैं जिसमें मनुष्य शान्ति का अनुभव करे······" वृद्ध कहते जाते थे।

"पर······"अग्निवर्मा कुछ कहना चाहता था।

"···पर···मैं जानता हूँ···मनुष्य भगवान् के लिए मन्दिर नहीं बनाता अपने लिए बनाता है···अपनी आध्यात्मिकता को आवरण देता है, कला का आविष्करण करता हैं···और अपनी सृष्टि को इस संसार के स्रष्टा को समर्पित करता है। भक्ति कला-प्रेरक है। वह मस्ती, जिसमें मनुष्य एकाग्र हो अपने कार्य में व्यस्त रहता है। अच्छा, तुम कौन हो बेटा ? यहाँ पहिले कभी दिखाई नहीं दिए ?"

अग्निवर्मा ने वृद्ध के समक्ष साष्टांग नमस्कार किया मानो उसको कोई नया गुरु मिल गया हो। जब तक वृद्ध बोलता रहा वह मन्त्रमुग्ध-सा खड़ा रहा और वृद्ध भी, जो प्रायः चुप रहते थे उसके सामने अनायास अपने विचार व्यक्त कर बैठे थे। शायद वे तब मन्दिर के बारे में सोच रहे थे। अग्निवर्मा ने अपना परिचय दिया। प्रथम, वृद्ध ने अपनी भौंहें संकुचित की फिर यकायक उनका मुँह शिथिल पड़ गया—मन्दहास करने लगे।

"खैर, पर तुम्हारा नाम तो हिन्दू है।"

"माँ-बाप का दिया हुआ है···।" अग्निवर्मा ने कहा। वृद्ध का मन्दहास अट्टहास में परिवर्तित हो गया।

"तो तुम कलाकार हो ?" वृद्ध ने पूछा।

"हाँ, होने के प्रयत्न में हूँ···पत्थर में, अपने हृदय के भावों का हल्का प्रतिबिम्ब देखता हूँ, पर उनको रूप नहीं दे पाता हूँ···और जो कुछ देता हूँ···दे पाता हूँ, पर वे मेरे भावों के समरूप नहीं होते।······"

"तुम्हें शिक्षा की आवश्यकता है···अभ्यास और निष्ठा से सफलता मिल सकती है···" वृद्ध कह रहे थे—"मुझे शक हो रहा था कि तुम इस ग्राम के नहीं हो। वह शक ठीक ही निकला। मैं भी तुम-जैसा परदेशी हूँ···देश-देश पर्यटन करता हूँ···यहाँ के ग्रामिक ने बुलवाया है···आदर्श व्यक्ति हैं। मिले कि नहीं ?"

"उन्होंने अपने यहाँ ही ठहरा रखा है।···तो आप कहाँ के रहने वाले हैं ?"

"मैं कलिंग देश का हूँ······परिव्राजक हूँ। मन्दिर बनाता हूँ··· कई मन्दिर बनाए हैं···जानते हो, क्यों मन्दिर एक जैसे बनाए जाते हैं— ताकि किसी भी मन्दिर को देखकर चाहे वह किसी भी देवता का हो मनुष्य में एक ही जैसी पवित्र भावना पैदा हो। यह मेरा बीसवां मन्दिर है।" वृद्ध ने कहा।

"मन्दिर के बनाने में कितने दिन लगते हैं ? अग्निवर्मा ने उत्सुकता प्रकट की। वृद्ध पहिले तो हँस दिए फिर मुस्कराकर उन्होंने कहा— "इसका कोई हिसाब नहीं। वर्षों का परिश्रम लगता है······तुम तो कलाकार हो······अनुमान कर सकते हो। अच्छा, तुम फिर मिलना— अब समय हो गया है, काम देखना है।" वृद्ध लठिया लेकर चलने लगे। अग्निवर्मा भी उनके पीछे हो लिया, शायद वह उनका साथ नहीं छोड़ना चाहता था।

"यह पत्थर कहाँ से लाया जाता है? अग्निवर्मा ने जानना चाहा।

"बावड़ी के पास खान है···अच्छा पत्थर है"······वृद्ध कहते-कहते आगे बढ़ गए। उसके साथ वाले व्यक्ति ने कहा—"आओ, मैं दिखा दूँ।"

"नहीं नहीं, अब मैं ग्राम को जान गया हूँ—मार्ग बताओ, मैं चला जाऊँगा।" अग्निवर्मा ने उस आदमी का कन्धा थपथपाते हुए कहा। युवक ने हाथ उठाकर बावड़ी की ओर सकेत किया। कई, व्यक्ति पत्थर— बड़े-बड़े नीले-नीले पत्थर—ला रहे थे। हट्टे-कट्टे मनुष्य···धीमे-धीमे टीले के ऊपर सरका रहे थे। पसीने से तरबतर थे। वे ग्राम के ही लोग थे···कुली, मज़दूर नहीं, परस्पर सहयोग से मन्दिर बन रहा था।

अग्निवर्मा कुछ सोचता-सोचता धीरे-धीरे बावड़ी की ओर जा रहा था। बावड़ी टीले की तलहटी में थी। चारों ओर आम और जामुन के पेड़ों का झुरमुट था। पक्षियों का कलरव दूर से सुनाई पड़ता था।

शायद गाँव का सबसे सुन्दर स्थल वही था। उसके बाद खेत प्रारम्भ होते थे। वहीं कुछ हरियाली थी···फिर दूर तक सूखी, तपती जमीन। खाली। बंजर।

वह टीले के नीचे की ओर जा रहा था। उसके पैरों-तले ऐतिहासिक भूमि थी, जिस पर कभी सातवाहनों के विद्युत्-समान अश्व दौड़े होंगे, और कभी रुद्रदमन के वायु-समान घोड़े···उस टीले के लिए कितनों ने ही अपनी जान खोई होगी···पर वही लगभग वह सब भूली-सी बैठी थी—विशाल मूक मूर्ति की तरह। अग्निवर्मा के विचार उमड़ते जाते थे।

"आखिर वे मुझसे क्यों बोले ?" अग्निवर्मा सोचता था। "शायद इसलिए कि मैं भी उनकी तरह ग्राम में नवागन्तुक हूँ। सम्भव है ग्रामिक ने उनको कह दिया हो कि वे मुझे मूर्ति बना देंगे। नहीं तो वे मुझसे इतने विस्तार से—इतने प्रेम से—क्यों बोलते ? भक्त का हृदय, जो अप्रत्यक्ष के लिए तड़पता है, क्या अपरिचित को अपने प्रेम से अभिषिक्त नहीं करेगा ? कोई महान् व्यक्ति मालूम होते हैं···धन्य है मेरा भाग्य कि मैं उनसे परिचित हो सका।"

"क्या मैं मूर्ति बना सकूँगा ? क्या वह मूर्ति भगवान् का प्रतिनिधित्व कर सकेगी ? क्या वह भक्तों के प्रेम का पात्र बन सकेगी ? नहीं, मेरी मूर्तियाँ बोलतीं नहीं···आत्मीयता नहीं जगातीं···क्या मैं बनाऊँ ? बना सकता हूँ ? मूर्ति कलाकृति हो सकती है ···भक्ति ही उसमें प्राण देती है। पर मैं···मैं···युवक हूँ···और मुझ में यौवन-सुलभ सभी लोभ है···काम-वासना, चपलता। तो क्या मैं कर सकूँगा ? क्या यहाँ भी वह गुजरेगा जो नासिक में गुजरा था ? नहीं, नहीं···" वह हाथ सिर पर रखकर तलहटी की ओर भागने लगा—एक पागल की तरह।

दौड़ते-दौड़ते बावड़ी के पास ही शरण ली। शुष्क प्रान्त था, पानी काफी नीचे हीउपलब्ध होताथा। ऊँची-ऊँची—बड़ी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं—नासिक के बड़े-बड़े घाटों की तरह। थोड़ी-सी जगह

में ही नीला साफ़ पानी चमक रहा था। यहाँ से पीने के लिए पानी ले जाया जाता था। ग्राम की स्त्रियाँ, हमेशा वहाँ पानी लाने के लिए आती-जाती रहतीं, कलश लिए, मस्तानी चाल से। उनको देखता अग्निवर्मा, शायद पुरानी आदतवश, वहीं एक पत्थर पर बैठ गया।

स्त्रियाँ घर के लिए तो पानी ले ही जाती थीं। शायद ग्रामिक की आज्ञा भी कि वे एक-एक कलश ले जाकर एक नाली में डालें, जिससे पासवाला उद्यान भी सिंच जाए। उद्यान बड़ा न था—घने वृक्ष थे। अच्छी छाया थी।

और दूसरी तरफ़ कुछ २०-२५ व्यक्ति पत्थर की खान में काम कर रहे थे। अग्निवर्मा ऊँचाई पर था, इसलिए वे दीख पड़ते थे। पर दूर से सिवाय एक बड़े गढ़े के और कुछ दृष्टिगोचर न होता था। लोगों का हो-हल्ला सुनाई पड़ता था। वह पर्वत-प्रान्त न था। यद्यपि ऊपर उपजाऊ मिट्टी थी, पर जमीन के किसी तह में अच्छा पत्थर भी था—यह अग्निवर्मा ने बावड़ी के पत्थरों को ठोक-पीटकर जान लिया।

वह टीले पर से पत्थरों की खान देखने आया था, पर बावड़ी तक पहुँचते-पहुँचते वह अपने ही विचारों में मस्त हो गया। अगर कोई चीज़ उसको उस गाँव में रहने के लिए प्रेरित करती...तो कोई उस दूर पुकारता लगता...और कहीं-कहीं नासिक की भी कसक थी...। पत्थर तो तब देखता जब वह निश्चय कर लेता कि उस गाँव में रहेगा कि नहीं। वह अपनी चंचलता से ही उकता-सा गया था।

थोड़ी देर बाद उठा और वह उद्यान की ओर गया। सिवाय पक्षियों के वहाँ उसे कोई न दिखाई दिया, इसलिए निश्चित हो आगे-आगे चलता जाता था...वह उद्यान के द्वार तक आया ही था कि सहसा खड़ा हो गया। उसने आँखें एक बार मूँद लीं...। धनंजय, किसी सुन्दर स्त्री से, चिबुक पकड़-पकड़कर बातचीत कर रहा था। दोनों जामुन के पेड़ के नीचे, झाड़ियों के झुरमुट में लेटे थे।

अग्निवर्मा के पैरों की आहट सुन वे चौंक पड़े। धनंजय उसकी

तरफ़ क्रुद्ध हो घूरने लगा। वह उठ खड़ा हुआ। उसकी आँखें आग बरसाने लगीं। अग्निवर्मा चुपचाप पीछे की ओर चल पड़ा। दो-चार पेड़ पार कर सिर पर पैर रख, खान की ओर बेतहाशा भागने लगा। धनंजय उसको निरंतर देख रहा था। पर अग्निवर्मा ने पीछे मुड़कर उस को देखने का साहस न किया—उसे लगा, जैसे नासिक की "धार्मिक" जनता अब भी उस पर अन्धाधुन्ध पत्थर बरसा रही थी।

५

युवक चंचल-चित्त है। उसको एक ही समय भिन्न-भिन्न इच्छायें भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर आकर्षित करती हैं। वह कभी इधर तो कभी उधर डाँवाँडोल होता रहता है। कुछ निश्चय नहीं कर पाता, अधिक सोच भी नहीं पाता और इस बीच में कुछ का कुछ कर बैठता है।

धनंजय को उस अवस्था मे देखकर अग्निवर्मा डर गया। वह न चाहता था कि वह वापिस ग्रामिक के घर जाए। उसका कोई दोष न था पर, उसको भरोसा न था कि धनंजय उसको चैन से रहने देगा। उसने सीधे वन्य कटक की ओर जाने की ठानी। पर अगले ही क्षण यन्त्र की तरह गाँव की ओर चलने लगा।

जब वह धीमे-धीमे घूमता-घूमता ग्रामिक के घर पहुँचा, तो वे पेड़ के नीचे खटिया पर बैठे हुए थे। उनके पास वह वृद्ध भी था, जिनकी देख-रेख में मंदिर का कार्य हो रहा था। अग्निवर्मा ने उनको देखकर साष्टांग नमस्कार किया।

"क्यों खान देख आए हो ?" वृद्ध ने पूछा।

"हाँ।"

"पत्थर ज़रा सख्त है, पर बहुत बढ़िया है…चमकाने पर संगमरमर को भी मात करता है। पसन्द आया ?"

"जी…" अग्निवर्मा ने पत्थर की परख न की थी। पर उस वृद्ध से वह कहता भी तो क्या कहता।

"बेटा, तुम ठीक मौके पर आए, हम तुम्हारे बारे में ही सोच रहे थे। कहो गाँव पसन्द आया ?" ग्रामिक ने पूछा।

"जी···"

"तो यहीं रहोगे ? इच्छा न हो तो स्पष्ट कह दो।"

"जी···" अग्निवर्मा नीचे मुँह किए सोच रहा था। वह कुछ निश्चय न कर पाया था, पर उसके मुख मे अनायास स्वीकृतिसूचक 'जी' निकल पड़ा। 'बेटा' के सम्बोधन ने उसको अभिभूत-सा कर दिया। उसने वह मधुर शब्द वर्षों से न सुना था। ग्रामिक का व्यक्तित्व आकर्षक था। उनकी बात न मानना आसान न था। वह आज्ञाओं का आदी भी था।

"अच्छा, तो मूर्ति का काम शुरू कर दो। मैं धनंजय से कह दूँगा कि तुम्हारे रहने-सोने का प्रबन्ध कर दे। तुम जहाँ चाहो अपने लिए कुटी बनवा लो। मज़दूरों का भी इन्तज़ाम धनंजय कर देगा। बेटा, जाकर धनंजय को भेज दो।" ग्रामिक ने कहा।

अग्निवर्मा यकायक कँप-सा गया। धनंजय के पास जाने की हिम्मत न होती थी। वह यह भी न जानता था कि वह वापस घर आ गया है कि नहीं। पर ग्रामिक की आज्ञा वह टाल भी न सकता था। पिछवाड़े में जाकर घर में धनंजय के बारे में पूछ-ताछ की। वह अभी न आया था। अग्निवर्मा ने सन्तोष की साँस ली।

उसने ग्रामिक के पास जाकर कहा—"धनंजय घर में नहीं है।"

"कहाँ गया है ?"

"मुझे मालूम नहीं है।"

"तुम्हारे साथ भेजा था, वापिस साथ नहीं आया ?"

"जी नहीं।"

"इसकी बुरी आदत हो रही है। आवारागर्दी बढ़ती जाती है। अच्छा ख़ैर।" ग्रामिक क्रुद्ध प्रतीत होते थे। वे अपने सामने वृद्ध को बैठा देख चुप हो गए, अन्यथा शायद वे कुछ और कहते।

अग्निवर्मा पिछवाड़े में भी न जा पाता था। अकेला क्या करता। पेड़ के पीछे वह शान्त बैठ गया। वह उन दोनों की नज़र से बाहर था। वह भी उनको देख न पाता था। उसके बीच पेड़ का मोटा तना था और पेड़ के पास भुस का ऊँचा ढेर था, जिसमें से बछड़ा रह-रहकर भुस लेकर खा रहा था।

"लड़का होनहार मालूम होता है" वृद्ध ने कहा। अग्निवर्मा जानता था कि वृद्ध उसकी ओर संकेत कर रहे थे। वह सँभलकर बैठ गया।

"क्या काम कर पाएगा ?" ग्रामिक ने पूछा।

"काम तो मैंने नहीं देखा है। एक-दो मूर्तियाँ बनवाई जाएँ। अच्छी होंगी—तो उनका मन्दिर में प्रतिष्ठान करेंगे, नहीं तो नहीं। मौका देकर देखा जाए।"

"हाँ, आप ठीक कहते हैं।"

"इस उम्र में यह जरूरी नहीं है कि आदमी सब कुछ जाने, जान भी नहीं सकता, यह काफ़ी है अगर कोई जानने की इच्छा रखे और जी तोड़कर मेहनत कर सके। मैंने इस लड़के से बात-चीत की थी। उसमें जानने की इच्छा है। पर इस समय यह नहीं कह पाऊँगा कि वह बहुत कुछ जानता है। जान जरूर सकता है। मैं भी हूँ मैं भरसक मदद करूँगा।" वृद्ध कह रहे थे कि अग्निवर्मा का मन बल्लियों उछलने लगा।

"हाँ, आप ठीक कह रहे हैं..."

"मूर्ति बनाने का काम आसान नहीं है। बहुत समय लगता है। निर्जीव पत्थर को सजीव बनाना होता है। कई बार मन्दिर बन जाते हैं पर मूर्तियाँ नहीं बन पातीं। इसलिए अच्छा है अभी से काम शुरू कर दिया जाय।"

"हाँ हाँ, मैंने प्रबन्ध करवाने के लिए कह दिया है। मैं एक और बात सोच रहा हूँ। मुझे भी नहीं मालूम कि यह लड़का अच्छा कलाकार है कि नहीं। पर आजकल अच्छे कलाकारों का मिलना मुश्किल है।

युद्ध का ज़माना है। सर्वत्र अशान्ति है। रुद्रदमन ने कलाकारों को अजीब-अजीब काम सौंप रखे हैं। जो कलाकार हैं वे बहुत महँगे हैं। हमारे पास इतना धन नहीं है। जैसा आप कहेंगे वैसा ही करेंगे। आप हैं ही इसलिए हमें कोई फिक्र नहीं। अच्छा।"

"हाँ-हाँ आप बेफिक्र रहिए।" वृद्ध ने कहा। दोनों कुछ देर तक चुप रहे। फिर वृद्ध उठकर चले गए। अग्निवर्मा भी निश्चिन्त हो इधर-उधर घूमने लगा था। वह जो स्वयं निश्चय न कर पाया था, बुजुर्गों ने उसके लिए निश्चय कर दिया था। वह अब भी भयभीत था। यह जानकर सन्तुष्ट भी था कि स्वतन्त्र रूप से उसे कार्य करने का मौका मिल रहा था। उसे वृद्ध की सहायता भी मिल रही थी। वह बहुत-कुछ जान सकता था।

घूमता-घूमता वह फाटक के पास गया। फाटक पर हाथ रखकर वह बाहर देखने लगा। गौवें धूल उड़ाती हुई वापिस घर जा रही थीं। उनके पीछे ग्वाले चले आ रहे थे। सिर पर कलश रख गाँव की स्त्रियाँ जा रही थीं। उनको देखता अग्निवर्मा खड़ा रहा। थोड़ी देर बाद वह स्त्री भी जो धनंजय के साथ थी उस तरफ से गुजरी। अग्निवर्मा मुँह मोड़कर घर की ओर चल पड़ा। और वह स्त्री उसको देखकर मुस्कराती चली गई।

उसके जाने के बाद धनंजय खुशी-खुशी लट्टू घुमाता-घुमाता आया। पर तब तक अग्निवर्मा घूमता-घूमता बछड़ों के पास पहुँच गया था। ग्रामिक वहीं बैठे थे। वे शान्त थे। कुछ सोचते मालूम होते थे।

वे धनंजय को देखकर यकायक उठ गए। "तुम अब आए हो? इसको आए तो बहुत देर हो गई है। तुम क्या कर रहे थे?" ग्रामिक ने कड़ी आवाज़ में पूछा।

"बगीचे में था।"......धनंजय अग्निवर्मा की ओर घूर रहा था, और अग्निवर्मा बछड़े को थपथपा रहा था। उसे लग रहा था जैसे उससे पूछतलब की जा रही हो।

"शर्म नहीं आती, अतिथि को गाँव दिखाने के लिए भेजा और तुम उनकी परवाह किए बगैर इधर-उधर फिरने लगे। बगीचे में ही जाना था, तो क्या घर में काम न था? मैं सब जानता हूँ। मुझे सब मालूम हो गया है। संभलकर रहो। समझे? जाओ। देखो, गौवें ठीक हैं कि नहीं?" ग्रामिक ने लाल-पीले होते हुए अपने पुत्र को आज्ञा दी।

धनंजय पिछवाड़े में गया। तब तक अग्निवर्मा अतिथिशाला के सामने जाकर खड़ा हो गया था। उसका डर और भी बढ़ गया था। वह सोच रहा था कि धनंजय शक कर रहा होगा कि उसने उसकी शिकायत की है। ग्रामिक की डाँट-डपट से यह साफ़ था!

धनंजय उसको घूरता-घूरता उस तरफ से गुजरा। आँखें आग बरसा रही थीं। उसके हाव-भाव से लगता था जैसे वह जानता हो कि अग्निवर्मा ने उसकी शिकायत की है। और यदि अग्निवर्मा न होता तो शायद वह कुछ बहाना बनाता। वह गौओं के पास चला गया। और अग्निवर्मा अतिथिशाला में जाकर चिन्तित, एकाकी बैठ गया।

६

श्रावण का महीना था। हमेशा बदली छाई रहती, कभी बूँदा-बँदी होती, कभी मूसलाधार वर्षा। आसमान कभी नीचे आता लगता, कभी ऊपर। सुहावना मौसम था। हरे खेत लहलहा रहे थे। जगह-जगह नदी-नाले बन गए थे। पत्थरों की खान में पानी भर गया था। विश्रान्ति का वातावरण था।

वर्षा के कारण मन्दिर का काम रुक गया था। दीवारें ऊँची हो गई थीं। छप्परों के नीचे नया पत्थर गढ़ा जा रहा था। चिनाई का काम एकदम बन्द था। मज़दूरों के लिए वर्षा में काम पर आना मुश्किल था।

अग्निवर्मा के लिए भी रहने का प्रबन्ध कर दिया गया था। पहाड़ी पर, पेड़ों के झुरमुट में उसके लिए एक झोंपड़ा बना दिया गया था। बगल में वे वृद्ध व्यक्ति अकेले रहते। झोंपड़े में पत्थर भी जमा कर दिया गया था। तीन-चार मज़दूर हमेशा उसके पास रहते। धनंजय स्वयं उस की सुविधाओं की देख-रेख करने के लिए आता। अग्निवर्मा और धनंजय एक-दूसरे को देखते पर बात न करते। दोनों में जाने क्यों दूरी बढ़ती जाती थी।

धनंजय ने गाँव में अपनी एक टोली बना ली थी। ग्रामिक का लड़का था। कई उसके इशारों पर चलने वाले थे। एक बार अग्निवर्मा पहाड़ी से खान की ओर जा रहा था कि किसी ने उस पर पत्थर मारा-उसके कान को छूता पत्थर निकल गया। वह घबरा गया। उसे सन्देह न हुआ कि धनंजय की टोली की करतूत थी।

एक बार वह गाँव में से गुजर रहा था। उसके आगे नौजवान स्त्रियों की मटकती टोली कन्धों पर कलश रख बावड़ी की ओर जा रही थी। वह तन्मय हो उनकी ओर घूर रहा था। धनंजय किसी घर में से ऐसे निकला जैसे इस अवसर की प्रतीक्षा में हो, उसके साथ दो-चार साथी भी अट्टहास करके उसकी खिल्ली उड़ाने लगे। औरतों ने मुड़कर अग्निवर्मा को देखा। वह भय और शर्म से पानी-पानी हो गया। हक्का-बक्का हो इधर-उधर देखने लगा। धनंजय का अट्टाहस बढ़ता गया। आखिर उसे सिर पर पैर रखकर दौड़ना पड़ा। ग्रामिक से शिकायत करने की भी हिम्मत न हुई। लहू का घूँट पीकर रह गया।

अग्निवर्मा साहसी नहीं कहा जा सकता था। मैत्रेयी के कारण नासिक में उसकी जो गत बनी थी, उसकी याद ही उसे कँपा देती थी। यह घटना कहीं और गुजरती तो अग्निवर्मा शायद कभी का अपना रास्ता ढूँढ़ लेता। वह आत्म-संघर्ष का आदी था। किसी से लड़ना-झगड़ना उसे पसन्द न था। वह एकान्त का प्रेमी था।

और अब तो गाँव में भी काम शुरू हो गया था। वृद्ध से इस तरह की मदद मिल रही थी, जो कभी मैत्रेयी के पिता ने भी न दी थी। उनका एक ही पाठ था—गुरु का अनुकरण। इस तरह शिष्य गुरु की प्रतिमाओं का अनुकरण तो कर लेता था, पर अपनी निजी प्रतिभा का पूर्ण रूप से विकास नहीं कर पाता था। पर ये वृद्ध सिर्फ कोई विचार देते, खाका बना देते और अग्निवर्मा को अपने ही ढंग से प्रतिमा बनाने देते।

अग्निवर्मा अधिक काम न कर पाया था। कई प्रतिमाएँ अधूरी थीं। किसी का हाथ गढ़ दिया था, तो किसी का पैर। कहीं-कहीं पत्थर काट करके रख दिए गए थे। अग्निवर्मा को हर पत्थर में कोई अव्यक्त मूर्ति दिखाई देती। वह उसे खोजता छेनी चलाने लगता, जब कुछ बनने लगता तो उसका ध्यान किसी और पत्थर पर चला जाता। पहिला काम अधूरा ही रह जाता—और दूसरा शुरू न हो पाता। वह जमकर

काम न कर पाता था। भरसक कोशिश करने पर भी उसमें एकाग्रता न आती। बचपन के संस्कारों से मुक्त होना मुश्किल था।

जल्दी ही काम से ऊब जाता। टहलने निकल जाता। कभी-कभी खान के पास जाता, कभी बावड़ी के पास, बगीचे की ओर पीठ करके दूर क्षितिज की ओर देखता। उसका कोई मित्र भी न था। ग्राम के समवयस्क धनंजय के साथ थे। वह बहिष्कृत-सा था। मन भी न बहला पाता था। बड़े-बूढ़ों की सोहबत में भी कब तक रहता? कभी-कभी ग्रामिक देखते-देखते उसके पास भी आते। दो-चार बातें होतीं—वह भी पाँच-छः दिन में एक-दो बार।

ग्राम में अच्छा वातावरण बनता जा रहा था। शायद पावस ऋतु का प्रभाव था। रुद्रदमन ने सातवाहनों को फिर पराजित कर दिया था। कोई सन्धि न हुई थी। बात-चीत चल रही थी, कहीं-कहीं, सुना जाता था, युद्ध भी हो रहा था। पर युद्ध की भयंकरता कहीं न दीख पड़ती थी। सैनिकों की टोलियों का आना भी कम हो गया था। ग्रामिक इस बदलती परिस्थिति पर कुछ शंकित जान पड़ते थे, पर गाँववाले प्रफुल्लित थे। चैन से दिन बिता रहे थे।

हर सप्ताह कोई न कोई मनोरंजन का कार्यक्रम रहता···कभी बावड़ी के पास नृत्य होता तो कभी पहाड़ी पर, मन्दिर के खुले प्राँगण में कोई नाटक अभिनीत होता—नहीं तो ग्राम में कन्याएँ गीत गाती निकलतीं। खेतों में काम कम था—इसलिए हर कार्यक्रम के लिए अच्छी-खासी भीड़ इकट्ठी हो जाती।

आज धनंजय के चाचा ने उद्यान के ग्रामवालों को न्योता दिया था। उसकी लड़की का विवाह निश्चित हुआ था। ग्रामिक का भाई था—इसलिए ग्राम में उसकी अपनी हैसियत थी। ग्राम क्योंकि ब्राह्मणों का था और सभी एक-दूसरे से किसी न किसी रूप में सम्बन्धी थे, सब निमंत्रित थे। वृद्ध और अग्निवर्मा को भी न्योता दिया गया था।

किसी समीपस्थ गाँव से गायक और नर्तक बुलाए गए थे। ग्राम

की स्त्रियाँ भी वहीं थीं। आस-पास के गाँववाले भी उपस्थित थे। यह ग्राम की एक बड़ी घटना थी। ग्रामिक भी एक खटिया पर पेड़ के नीचे बैठे थे। उनके भाई भी वहाँ थे। सुनते हैं वे अपनी जवानी में सातवाहनों के किसी महाक्षत्रप के दरबार में पुरोहित थे। दान-दक्षिणा में पर्याप्त धन-धान्य पाया था। सातवाहनों का बुरा जमाना था। वे ही एक जगह टिक न पाते थे। रुद्रदमन की सेनाओं से उसे निरन्तर लड़ना पड़ रहा था। इसलिए वे महाक्षत्रप की नौकरी छोड़कर स्वग्राम चले आए थे। काफी भूमि थी। कृषि करवा रहे थे।

अग्निवर्मा को ग्रामिक के पास स्थान दिया गया। धनंजय भी वहीं खड़ा था। अग्निवर्मा को गाँव में रहते हुए काफी दिन हो गए थे। गाँव के सभी लोग उसे जानते थे पर वह बहुत कम लोगों को जानता था। गाँव में रहते-रहते ग्रामिक के लिए उसमें भक्ति और आदर पैदा हो गए थे। ग्रामिक के व्यक्तित्व का उस पर प्रभाव पड़ा था। वे उसके लिए देवता के समान थे, जिनकी दूर से ही पूजा होती थी। वह पास जाते हिचकिचाता था। फिर धनंजय से विरोध मोल लेना भी उसके हित में न था।

अग्निवर्मा ग्रामिक के पास जाकर बैठा और उसको बैठता देख धनंजय धीमे से खिसक गया। ग्रामिक ने पूछा, "क्यों, बेटा, काम कैसे चल रहा है ?"

"जी, ठीक ही चल रहा है ?"

"कुछ बना कि नहीं ?..."

अग्निवर्मा सिर नीचे किए हाथ मलने लगा। वृद्ध ने कहा, "जब आदमी के पास बहुत कुछ बनाने के लिए होता है, तो कम ही बना पाता है। हर चीज उसको आकर्षित करती है, पर कोई चीज उसको केन्द्रित नहीं करती। कला में जितनी नैरन्तर्य और एकग्रता की महत्ता है, उतनी किसी और चीज की नहीं। क्यों बेटा ? तुम क्या कहते हो ?" —वृद्ध ने अग्निवर्मा की पीठ पर थपथपाते हुए पूछा।

अग्निवर्मा शर्माता चुप रहा। क्या कहता? वृद्ध ठीक ही कह रहे थे।

"तो, यानी बहुत कुछ बन रहा है···" ग्रामिक ने मुस्कराते हुए पूछा।

अग्निवर्मा मुस्करा दिया।

"हाँ, बहुत शुरू हो गया है। मूर्ति जल्दी बनती भी तो नहीं है। जब शुरू हुई है तो समाप्त भी होगी। क्यों बेटा?"

अग्निवर्मा चुप रहा। उसे ऐसा लग रहा था जैसे उसको कोई आग में सेंक रहा हो। वह लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगा।

"कोई बात नहीं—सब कलाकार एक ही तरह थोड़े काम करते हैं—कोई एक काम करके दूसरा लेता है···और कई एक ही समय में कई काम करते हैं। सबका काम करने का अपना-अपना तरीका है।" वृद्ध ने अग्निवर्मा की ओर देखा और अग्निवर्मा दूर औरतों की टोली की ओर देख रहा था। वे अपने पैरों पर पायल बाँध रहे थे।

"जवान ही तो है···सब ठीक हो जाएगा। आजकल के जवान ही ऐसे हैं।" ग्रामिक ने कहा।

ग्रामिक शायद कुछ और कहते। पर इस बीच में मृदंग बजने लगे। गायकों ने गाना शुरू कर दिया था और नर्तक नाच रहे थे। ऐसे अवसरों पर गाँव के सब लोग बिना किसी भेदभाव के आपस में विनोद करते। स्त्री-मर्द सभी भाग लेते।

नवयुवक नवयुवतियों का हाथ पकड़कर नाच रहे थे। काफ़ी बड़ी टोली थी···पेड़ के नीचे, ग्रामिक की नज़र से कुछ दूर, धनंजय भी उस लड़की के साथ नाच रहा था जिसके साथ उसने एक दिन उसको इसी बाग में प्रेम करते पाया था। अग्निवर्मा झेंप गया। वह उठकर पीछे खड़ा हो गया। पास में ही पकवान बन रहे थे, महक आ रही थी। उसने उस तरफ़ जाना चाहा, पर इतने में मृदंग की थपथपाहट और बढ़ गयी। टोलियाँ नाच-नाचकर चक्कर काटने लगीं। धनंजय

उस लड़की के साथ ग्रामिक के सामने से गुजरा। ग्रामिक की नज़र उन पर पड़ी। मुस्कराता चेहरा एक क्षण के लिए पथरा-सा गया, फिर यकायक ढीला पड़ गया——जैसे किसी को देखकर नाराज़ हुए हों और अपनी नाराज़गी न दिखाना चाहते हों। पर अग्निवर्मा जानता था कि ग्रामिक को धनंजय का उससे मिलना-जुलना कतई न भाता था। विशेष-कर अब जबकि उनके भाई की लड़की की अच्छे घराने में शादी होने जा रही थी।

नाचना-गाना बढ़ता जाता था। अग्निवर्मा उसमें भाग न ले सकता था। धनंजय के होते उसके साथ नाचने का कोई साहस नहीं करता। वह दूसरों को नाचता, मौज करता देख भी न पाता था। वह ग्रामिक और वृद्ध की नज़र बचाकर उद्यान से बावड़ी की आड़ में से होता हुआ पत्थरों की खान पर पहुँचा। खान सुनसान थी। सारा गाँव उद्यान में था। अग्निवर्मा पत्थरों के ढेर पर बैठ गया।

थोड़ी दूरी पर खेतों के मेंड़ पर से किसी को जबर्दस्ती ले जाया जा रहा था। दो सिपाही आगे थे, और दो सिपाही पीछे। अग्निवर्मा ने जानना चाहा कि वे कौन हैं। उसने दो-चार कदम आगे रखे। पर सिपाही स्वयं ही खान की ओर चले आये। वे शायद आराम करना चाहते थे। वे भी पत्थर के ढेर पर आ बैठे। ढेर के पीछे एक पेड़ था। इसलिए अच्छी छाया थी।

अग्निवर्मा ने जो उस व्यक्ति को देखा तो उसका कलेजा थम-सा गया। और वह व्यक्ति भी नाक-भौं चढ़ाकर सिर मोड़कर बैठ गया। वे मैत्रेयी के पिता थे। अग्निवर्मा ने जाना चाहा, पर उत्सुकता ने उसे जाने न दिया। संयोग की बात थी।

"आप इन्हें कहाँ ले जा रहे हैं?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"धन्यकटक।"

"पर इस रास्ते से क्यों?"

"ये जाना नहीं चाहते हैं। इनके जाननेवाले रास्ते में बहुत हैं।

इनको देखकर हमें डर है कि कहीं विद्रोह न हो जाये। इसीलिए इस जंगली रास्ते से इन्हें हम ले जा रहे हैं।" सैनिक ने कहा।

"पर ये हैं कौन?" अग्निवर्मा ने पूछा। उसके गुरु ने यकायक बड़ी आँखें करके उसको घूरा। एडी से चोटी तक देखा। फिर नीचे मुँह कर के पत्थर कुरेदने लगे।

"ये नासिक के मशहूर कलाकार हैं। राजा की आज्ञा है कि इनको धन्यकटक ले जाया जावे।" सैनिक ने कहा।

"क्यों?······"

"रुद्रदमन अपना राजमहल सजवाना चाहते हैं···वे चाहते हैं कि उनके महल भी उसी तरह सजाये जाएँ जिस तरह सातवाहनों के महल सजे हुए हैं। इन्होंने जाना न चाहा इसलिए हमें जबर्दस्ती ले जाना पड़ रहा है।"

"पर ये जाना क्यों नहीं चाहते?"

"अरे भाई, बेटीवाले बाप हैं। लड़की की शादी की उम्र है···अगर धन्यकटक चले गए तो उसकी शादी का क्या भरोसा? तुम्हारी शादी हुई है कि नहीं?"

"नहीं तो······"

"युद्ध के जमाने में शादी न करना ही भला है"—वह सैनिक कहता-कहता रुक गया। उसकी आँखों में से दो आँसू टपक पड़े। शायद कोई नवविवाहित था। "आओ चलो चलें" उसने बाकी सैनिकों से कहा। वह सरदार था। फिर वे यथापूर्व मेंढ़ पर चलने लगे।

अग्निवर्मा उनको तब तक देखता रहा जब तक आँखों से वे ओझल न हो गए। वह काष्ठवत् स्तब्ध-सा खड़ा था।

७

अग्निवर्मा की इच्छा हुई कि वापिस नासिक चला जाय। क्योंकि गुरु जिस हालत में धन्यकटक ले जाए जा रहे थे, उससे अनुमान किया जा सकता था कि मैत्रेयी भी कहीं-न-कहीं मारी-मारी फिर रही होगी। मैत्रेती को उसके कारण कई यातनाएँ भुगतनी पड़ी थीं। गुरु ने आवेश में आकर इतना हो-हल्ला कर दिया था कि कई दिनों तक मैत्रेयी के बारे में इधर-उधर की बातें उड़ी होंगी, बदनामी हुई होगी। बदनाम स्त्रियों से विवाह करनेवाले विरले ही मनचले होते हैं। कन्या और कला ऐसी है कि एक बार पाणिग्रहण किया तो मृत्यु ही उन्हें जुदा कर सकती है।

वह इन्हीं विचारों में उलझा रहता। गाँव में कोई बोलने-चालने वाला न था, इसलिए विचार तूफान के रूप में उसके मन में उठते, उठते जाते। वह विकल हो जाता। काम में अपने को भूलने की कोशिश करता पर काम भी न कर पाता। मन मैत्रेयी के बारे में पतंग होता रहता।

विवाह के बाद कई दिनों तक कोई न कोई उत्सव चलता रहा। वर्षा ऋतु जारी थी। मन्दिर का काम यद्यपि रुका हुआ था तो भी अग्निवर्मा के रहने का इतना अच्छा प्रबन्ध कर दिया गया था कि वह घर के अन्दर ही काम कर सकता था पर काम न होता था।

एक-दो वार ग्रामिक ने बुलाया मगर अग्निवर्मा ने कोई न कोई वहाना कर दिया। वह ग्रामिक के पास भी न जा पाता था। वह अपने

को अपराधी समझता आया था, अब वह भावना और भी बढ़ गई थी। ग्रामिक उससे काम के बारे में प्रश्न पर प्रश्न करते और उसके पास कोई उत्तर न था। धनंजय के बारे में पूछते मगर उसे भय था कि वह असत्य बोल पायेगा कि नहीं···और यदि सत्य बोलता तो धनंजय से व्यर्थ अनबन बनी रहती। बात मामूली थी······पर अग्निवर्मा जिस मानसिक अवस्था में था, उसमें यह एक उलझी हुई समस्या-सी हो गई थी।

ग्रामिक स्वयं लाठी टेकते-टेकते टीले पर आए। उस दिन बदली न थी। आकाश साफ़ था। आधा बना मन्दिर धुला मालूम होता था। नीला पत्थर आसमान की तरह चमक रहा था। ग्रामिक ने मन्दिर का निरीक्षण किया। परिक्रमा करके वे पेड़ के नीचे खड़े थे। उनके साथ वृद्ध भी थे। धनंजय उसके पीछे खड़ा था। अग्निवर्मा को बुलाया गया।

"क्यों तुम्हारा स्वास्थ्य खराब है ?"

"जी···चूंकि कुछ ?"

"वैद्य को देखा है कि नहीं ?···"

"जी ऐसी कोई······"

"अच्छा तो आओ, हमारे साथ आओ। हम दिखाएँगे···" वृद्ध ने कहा। धीमे-धीमे वे टीले से गाँव की तरफ़ उतरने लगे वृद्ध पीछे, मन्दिर के पास रह गए।

"हमारा ख्याल है कि धनंजय भी तुम्हारा काम सीखे। यह बचपन में अच्छे चित्र बना लेता था; फिर कोई सिखानेवाला नहीं मिला। मैंने इससे कह दिया है। इसकी आवारागर्दी बढ़ रही है। काम हो तो मन लगा रहता है, क्यों ?"

"पर मैं भी कितना जानता हूँ ? स्वयं शिष्य हूँ। सीख रहा हूँ···" अग्निवर्मा ने हाथ मलते-मलते कहा। उसकी आवाज़ में विनय था··· और भय भी।

'जितना भी जानते हो उतना सिखाओ। उससे अधिक तो जानते ही हो? खेती में इसका मन नहीं लगता। मन्त्र-पाठ भी नहीं आता-जाता। कुछ तो सीखे, काम-काजी बने आजकल मौसम भी ऐसा है कि कहीं आना-जाना नहीं हो सकता।" ग्रामिक कह रहे थे और पुत्र धनंजय अग्निवर्मा को लाल आँखों से घूर रहा था! ग्रामिक की बातों से साफ़ था कि उसको अच्छी डाँट पड़ी थी। ग्रामिक ने अग्निवर्मा के उत्तर की प्रतीक्षा न की। सम्भवतः वे उसकी मनोदशा से परिचित थे। उन्होंने आज्ञा-सी देते हुए कहा—"यह कल से तुम्हारे पास काम सीखने आयेगा···अगर काम न सीखना चाहे तो पत्थर ढुआओ और काम में रखो। मैं हरगिज नहीं चाहता कि यह गाँव की बिगड़ी स्त्रियों से बात करे। खैर, अब तुम जा सकते हो।"

अग्निवर्मा सिर नीचे किए; पैर घसीटते-घसीटते टीले पर चढ़ने लगा। उसके सामने एक और समस्या आ पड़ी। वह भयभीत था? धनंजय उसका समवयस्क था। अधिक बलशाली। ग्राम में उसका प्रभाव था। ग्रामिक का पुत्र था। वह उसका गुरु कैसे बन सकता था कला···केवल अवकाश का उपयोग करने का साधन नहीं है···न विनोद है···वह तो एक भाषा है जिसमें वे अव्यक्त भाव व्यक्त होते हैं, जिन्हें वाणी व्यक्त नहीं कर पाती। कलाकार कारीगर ही नहीं है। वह मन से कवि होता है और हर कोई कवि नहीं होता, भले ही तुकबन्दी कर ले। अग्निवर्मा के मन में इस प्रकार के विचार पत्थर पर खुदी हुई अस्पष्ट रेखाओं की तरह उमड़-उमड़कर प्रकट होने लगे।

"नहीं, यह नहीं हो सकता" उसने कुछ निश्चय करते हुए पैर ठोक-कर कहा—और जल्दी से आगे बढ़ गया। एकान्त में अपने से ही बात करने की उसकी आदत हो गई थी।

पर···सोचते-सोचते उसकी चाल धीमी पड़ गई। वह मन्दिर के पास वाले नीम के पेड़ के पास पहुँच गया था।

पर···क्या···ह···ह···ह···" पेड़ की आड़ में से कोई हँसी।

अग्निवर्मा चौंका। वह वही स्त्री थी जिसका धनंजय से अधिक मेल-जोल था। वह पेड़ के सहारे ठुड्डी पर हाथ रखकर और दूसरा हाथ पतली कमर पर थामे मुस्कराती खड़ी थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें अग्निवर्मा को निगलती लगती थीं। ऐसा लगता था जैसे वह बहुत देर से उसकी प्रतीक्षा कर रही हो। अग्निवर्मा चलता गया। वह उसके पीछे चलती गई। आस-पास कोई न था। अग्निवर्मा ने कई बार चारों ओर घूमकर देखा—वह स्त्री उसके पीछे चलती जाती थी। और लज्जा के कारण अग्निवर्मा से चलते न बनता था।

"क्यों जी···कहा न···पर···पर क्या ?" उस स्त्री ने पूछा।

अग्निवर्मा चुप रहा।

"सोच पाते हो पर क्या बोल नहीं पाते हो ?···बोलो, दिल हल्का हो जायेगा।"

अग्निवर्मा कुछ न बोला।

"क्यों···पत्थरों के संग रह-रहकर तुम भी पत्थरों की तरह बेजबान हो गए हो ?"

"···नहीं···नहीं···पत्थर बेजबान नहीं होते···नहीं···नहीं···" अग्निवर्मा सहसा बोल उठा। और तुरन्त पछताने लगा।

"···हाँ···हाँ···उनमें भी जबान आ जाती है···वे भी बोलते हैं··· जब वे तुम जैसे कलाकारों के हाथ में बन-ठनकर, सज-धजकर निकलते हैं···"

"हूँ···" अग्निवर्मा ने उसको देखते हुए कहा।

"कहो न ? तुम अपवित्र नहीं होगे···तुम तो ब्राह्मण नहीं हो ;" "हूँ।"

"जो पत्थरों से बुला सकते हैं क्या वे स्वयं नहीं बोल सकते ? अभी तुम्हारी कुटिया में होकर आई हूँ।"

"ऊ···हूँ।" कहा तो इतना ही था पर आँखें पूछती लगती थीं— "क्यों ?"

"तुम भी तो अकेले रहते हो···कोई नहीं बोलता···हमसे भी कोई नहीं बोलता···कुटिया में बड़ी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ हैं। तुम्हारे साथ में अँगुलियाँ नहीं···भगवान् हैं···कहो न 'हूँ' और तो क्या कहोगे ?"

अग्निवर्मा के मुँह पर मुस्कराहट आ गई। वह जल्दी-जल्दी कुटिया में घुस गया। उसके साथ वह भी घुस आई। उसको उस स्त्री की बेशरमी पसन्द न थी। पर वह करता तो क्या करता ? एक स्त्री को जबर्दस्ती कैसे हटाता ?

"तुम यहाँ अकेले कैसे रहते हो ? मन लगता है ?"

"हूँ···"

"शायद तुम···"

"तुम्हें अकेले आते हुए डर नहीं लगता।" अग्निवर्मा ने उसकी बात के बीच में कहा ताकि वह ऐसी कोई बात न कह दे जिससे उसे शर्मिन्दा होना पड़े।

"···नहीं तो; डर उन्हें लगे जो दिखाते कुछ हैं और करते कुछ हैं। बदनामी से वे डरें जिनको ब्याह की फिक्र हो···यानी···तुम बोलना जानते हो।" यह कह वह ज़ोर से अट्टाहस करने लगी।

"नहीं, तुम्हें धनंजय का डर नहीं···? वह अभी-अभी यहाँ आया था···।"

"नहीं···तो···उसे अपने पिता का डर है। तीन दिन से शक्ल नहीं दिखाई। वह प्रेमी भी क्या, जो पिता के डर से दूर-दूर नज़र बचाकर फिरा करे। उसे अपने पिता की पड़ी है···भले ही किसी पर कुछ गुजरे, ऐसों पर भरोसा नहीं करना चाहिए। तुम्हारे पिता हैं क्या ?"

"मगर फिर भी'···'अग्निवर्मा ने कुछ कहना चाहा।

"···नहीं, बताओ तुम्हारे पिता हैं क्या ?" उसने अपना प्रश्न दुहराया।

"नहीं तो; अगर धनंजय ने देख लिया···"

"तो क्या कर लेगा ?"

"वह तुम से विवाह करना चाहता है न ?"

"विवाह क्या करेगा ? अपवित्र हो जाएगा···न ? जो बाप की इच्छा के विरुद्ध मुझसे मिलने न आ सका वह उनकी इच्छा के विरुद्ध मेरे साथ ज़िन्दगी भर रहेगा कैसे ? मैं इन लोगों की नस-नस जानती हूँ···इन्हीं की सन्तान हूँ···यदि माँ ज़िद न पकड़ती तो हम जाने कहाँ होतीं।"

"तो तुम ब्राह्मण हो······?"

"हाँ एक तरफ से। पिता ब्राह्मण हैं। क्यों, अब तो बैठने के लिए कहो।" वह स्त्री घाघरा समेटकर बैठने का उपक्रम करने लगी। अग्निवर्मा ने दरवाज़ा पूरी तरह खोल दिया। किवाड़ के पास ही बैठ गया। वह अब भी उस स्त्री से बातचीत करते हुए हिचकिचा रहा था।

"तुम्हारा नाम अग्निवर्मा है न ?"

"हाँ।"

"तुम ब्राह्मण नहीं हो न···?"

"नहीं तो।"

"कौन हो ?"

"मनुष्य।" अग्निवर्मा मुस्करा रहा था।

"हो सकता है···तुम भी कुछ हम जैसे हो···नासिक के हो न ?"

"हाँ, हाँ, नासिक में था। तुम भी वहाँ की हो ?"

"हमारी कोई निश्चित जगह नहीं है, कुछ दिन प्रतिष्ठान में थे, कुछ दिन श्रीपर्वत में, फिर धन्यकटक में।"

"तो तुमने ये सब जगह देखी हैं ?"

"हाँ, हाँ।"

"बड़ी किस्मतवाली हो। तुम्हारे पिता कौन हैं ?"

"वे यहीं रहते हैं अब। ग्रामिक के सम्बन्धी हैं···नाम यज्ञदत्त है। हम यहाँ के रहनेवाले नहीं थे। वे धन्यकटक गये थे। वे सातवाहनों के

मन्दिर में पुजारी थे। मेरी माँ मन्दिर में देवदासी थी। अब सातवाहनों की हालत खराब है। मेरे पिताजी की यहाँ थोड़ी सम्पत्ति थी, सम्बन्धी वगैरह गृहस्थी भी थी। उनकी एक और पत्नी हैं। हम वहिष्कृत से हैं।

"हैं, तुम्हारा नाम क्या है?"

"क्यों, मुझे मेरे नाम से पुकारोगे? पुष्पवल्ली..."

"तुम्हें मेरा नाम कैसे पता लगा?"

"जब किसी स्त्री की किसी पुरुष पर नज़र पड़ जाती है तो नाम-पता मालूम कर लेना बड़ी बात नहीं है।"

"तुम धनंजय के साथ खेल-खिलवाड़ करती हो और मुझसे..."

"क्यों? मनाई है...मनाई है तो जाऊँ" पुष्पवल्ली ने उठने का अभिनय किया।

"नहीं, नहीं बैठो।"

पुष्पवल्ली धीमे-धीमे खिसियाने लगी।

"तुम मूर्तियाँ खूब बनाते हो। तुम तो औरतों से ऐसे शर्माते हो, जैसे किसी औरत की शक्ल ही न देखी हो और उनकी मूर्तियाँ ऐसी बनायी हैं कि स्त्रियाँ भी शर्मा जाएँ।"—पुष्पवल्ली हँसने लगी।

"तुम बातें खूब करती हो।"

"पेशा है, हमारा घर पास है यहीं टीले के पास। कभी-कभी आ जाना...मैं जाती हूँ। माँ खोज रही होगी।"

पुष्पवल्ली उठी। जाने लगी। अग्निवर्मा भी उसके पीछे-पीछे थोड़ी दूर तक पागल की भाँति चलने लगा।

गाँव में लोग दूर-दूर से आते-जाते थे। गाँव की अपनी परम्परा थी; प्रतिष्ठा थी। आदर्श ग्राम समझा जाता था।

आने-जाने वालों से ही कभी-कभी समाचार मालूम होते रहते थे। कानों-कान बात राज्य-अरण्य पार करती दूर-दूर जाती। जाते-जाते उस पर नमक-मिर्च की खासी परत भी लग जाती। समाचार और किंवदंती में कम ही फ़र्क रह जाता। पर समाचार जानने का दूसरा और कोई मार्ग न था।

एक बार ग्राम में से रुद्रदमन का दरबारी दूत गुजरा। ग्राम सतर्क हो गया। उसी के मुँह पता लगा कि रुद्रदमन सातवाहनों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। इस विषय पर काफ़ी दिन तक ग्राम में चर्चा होती रही। ग्रामिक इसके पक्ष में न थे। सातवाहन राजा शिथिल हिन्दू धर्म के उद्धारक थे, स्तम्भ थे। एक अहिन्दू को अपनी बेटियाँ देना वे उचित न समझते थे। उन्हें वर्णशंकर का भय था।

पर कई ऐसे भी थे जो सोचते कि सिवाय इस तरह के सम्बन्धों के सन्धि कभी भी स्थायी शान्ति में परिणत न हो सकती थी। वर्षों से युद्ध चल रहे थे; देश में अशांति थी, अराजकता थी। वे कहते थे कि शांति के लिए समझौते करने ही होते हैं। युद्ध से वर्णशंकर ही भला। पर इस विचार के व्यक्ति अधिक न थे।

ग्रामिक का प्रभाव आस-पास के गाँव पर भी था। वे न केवल

वयोवृद्ध ही थे अपितु ज्ञानी, अनुभवी, बुद्धिमान माने जाते थे। जो वे सोचते सैंकड़ों ग्रामिक उनकी देखा-देखी सोचने लगते थे। उनका ग्राम और ग्रामों का अगुआ था और वे अन्य ग्रामिकों के अग्रणी थे।

ग्राम सीनाप्रान्त में था। इसलिए अनुमान किया जाता था कि ग्राम और ग्रामिक की कार्रवाइयों के समाचार राजा तक पहुँचते होंगे। रुद्रदमन के कोप का भाजन ग्राम पहिले भी हो चुका था।

उसी दूत द्वारा मालूम हुआ कि सौराष्ट्र में विप्लव हो रहा था। राज्य के उत्तर में भी कई सेनापति अपने पृथक् अस्तित्व की विद्रोह के द्वारा सूचना दे रहे थे। रुद्रदमन का अगर दाहिना हाथ खाली हुआ था तो बायें हाथ को काफ़ी काम था और वह दक्षता और निर्भयता से वह काम निभा भी रहा था। कितने ही तलवार के घाट उतारे जा रहे थे।

अग्निवर्मा को जब ये समाचार मिले तो वह विह्वल हो उठा। सौराष्ट्र उनकी जन्म-भूमि थी और निर्मम और निष्ठुर से भी निष्ठुर जन्म-भूमि अच्छे से अच्छे परदेश से भली ही मालूम होती है। सौराष्ट्र से वह उष्ण वायु की तरह ढकेल दिया गया था···फिर भी वह यदाकदा उसके लिए तड़प उठता था।

मन्दिर गाँव का था। हर गाँववाला अपना-अपना निश्चित कार्य मन्दिर के लिए कर रहा था। मौसम भी सुधर गया था। प्राप्त समाचारों ने लोगों में अधिक स्फूर्ति पैदा कर दी थी। काम ज़ोर पर था। अग्निवर्मा भी कार्य में व्यस्त था।

धनंजय उसके पास आ रहा था। वह कोई काम न करता। अग्निवर्मा के दरवाजे के पास लट्ठ लेकर खड़ा रहता। प्रायः न धनंजय अग्निवर्मा से बात करता, न अग्निवर्मा ही धनंजय से। वह हमेशा बाहर देखता रहता। बाहर स्त्रियाँ काम में मग्न थीं। कितनी ही स्त्रियाँ कलश भर-भरकर बावड़ी से पानी ला रही थीं। पहाड़ी पर कहीं

पानी न था। पुरुष अधिक कठिन कार्य में लगे थे। स्त्रियों में पुष्पवल्ली भी थी। धनंजय की नज़र उस पर हमेशा लगी रहती।

धनंजय ने दो-चार बार पुष्पवल्ली से एकान्त में बात करने की कोशिश की। पर पुष्पवल्ली ने उसको टरका दिया। वह धनंजय से नाखुश-सी थी। उसे यह गवारा न था कि किसी के कहने-सुनने पर वह उससे न मिले-जुले। फिर भी उसको हाथ से फिसलने न देती थी।

पर धनंजय को सन्देह था कि वह अग्निवर्मा से अधिक हिल-मिल रही थी। एक दिन जब सवेरे-सवेरे वह अग्निवर्मा के घर आ रहा था तो उसको अग्निवर्मा टीले की तराई से आता दिखाई दिया। वह टीले पर घुटने पकड़-पकड़कर चलता जाता था और पुष्पवल्ली मुस्कराती उसकी ओर देख रही थी। धनंजय यह देख आसानी से सन्देह कर सकता था। यह आग-बलूला हो उठा।

पानी और यौवन को जमा करना टेढ़ी खीर है···एक भाप हो जाता है और दूसरा भटक जाता है। अग्निवर्मा इसका अपवाद न था। वह पुष्पवल्ली का निमन्त्रण अस्वीकार न कर सका। पाशविक प्रेम का भी तो अपना आकर्षण है।

धनंजय न पुष्पवल्ली को ही डाँट-डपट सकता था न अग्निवर्मा को ही बुरा-भला कह सकता था। मौके की तलाश में था। माथा-पच्ची कर रहा था।

कभी-कभी पुष्पवल्ली किसी न किसी बहाने धनंजय के होते हुए भी अग्निवर्मा के पास चली आती। धनंजय उसको दूर से आता देख अपनी लठिया सँभालता। पर जब वह पास आती तो भीगी बिल्ली बन जाता। पुष्पवल्ली मुस्कराती अन्दर चली जाती। अग्निवर्मा को चिढ़ाने के लिए धनंजय से बात करती और धनंजय को चिढ़ाने के लिए अग्निवर्मा से।···पुष्पवल्ली चुटकी लेती।

"तुमने ऐसे पुरुष भी देखे हैं जो पत्थर से बोल लेते हैं—? बोलना तो खैर बोलना रहा शादी तक कर लेते हैं।"

"मैं खैर शादी ही करता हूँ। तुम तो उसको देवी बनाकर पूजा करती हो।" अग्निवर्मा ने कहा।

"हूँ...हूँ...अब हमारे धर्म पर भी छींटे छिड़कने लगे हो ?" धनंजय ने कहा।

"हाँ, हाँ, मैं मानता हूँ कि मूर्ति बनाना केवल कारीगरी नहीं है। उसके लिए स्वधर्म की उत्तम श्रद्धा चाहिए वरना वह शिल्प ही रह जाता है, आराध्य वस्तु नहीं बन पाती।" अग्निवर्मा ने कहा।

"तो तुम भी मानते हो।" धनंजय ने कहा। "पिताजी भी खूब हैं कि एक यवन को, हिन्दू मन्दिर की मूर्ति बनाने के लिए लगा रखा है।"

"कौन जाने पत्थर बनानेवाला किस जाति का है—तुम मूर्ति पर ही लड़-झगड़ रहे हो।" पुष्पवल्ली ने कहा। सबके सब अट्टहास करने लगे। "बनानेवाले का काम बनाना है। मूर्ति को पूजनेवाले पूजते हैं। तोड़नेवाले तोड़ जाते हैं। मूर्ति के सौन्दर्य के कारण भक्तों को भक्ति का परिमाण नहीं घटता-बढ़ता...तुम दोनों ग़लत हो...खैर...इन बातों में क्यों फँसते हो ?" पुष्पवल्ली कह रही थी।

अग्निवर्मा छेनी चलाता जाता था। उसने एक बार पुष्पवल्ली की ओर ध्यान से देखा। उसने इस उत्तर की पुष्पवल्ली से आशा न की थी। ऐसी बातों में मैत्रेयी बड़ी थी। मुस्कराते-मुस्कराते उसने झट अपने होंठ मींच लिये।

"हाँ, जान लो लुढ़कते पत्थर कहीं टिकते नहीं हैं!" धनंजय का "लुढ़कते पत्थर" का संकेत अग्निवर्मा से था।

"पर यह भी जान लो कि टिके-टिकाए पत्थर भी लुढ़कने लगते हैं...और लुढ़कते पत्थर हमेशा लुढ़कते नहीं रहते, फिर हम भी तो जमे पत्थर नहीं हैं। कभी किसी का पैर लगता है तो कभी किसी और का।" पुष्पवल्ली ने हँसते हुए कहा।

"तो तुमने निश्चय कर लिया है ?" धनंजय ने पूछा।

पुष्पवल्ली कुछ देर चुप रही। फिर मुस्कराते हुए उसने कहा, "तुम भी क्या पागल हो गए हो, इसमें निश्चय की क्या बात है? तुम गुरु-शिष्य हो या कुत्ते-बिल्ली?" उसने उन्हें देखकर पूछा। उसने शायद सोचा था कि यह सुन दोनों हँसेंगे···पर उनके चेहरे और भी तन गए। "अच्छा, तो मैं जाती हूँ।" वह अपना मटका उठा, मटकती-मटकती चली गई। धनंजय भी लट्ठ लेकर उसके साथ हो गया।

उन दोनों के जाने के बाद अग्निवर्मा अपना ध्यान कार्य में केन्द्रित न कर सका। उसके मन की हालत अजीब थी—उसमें भय और ईर्ष्या एक साथ तूफान हो रहे थे। और उस तूफान में टीले की तरह मैत्रेयी की प्रतिभा अप्रभावित—स्थिर—खड़ी उसे दीखती।

वह दरवाजे पर खड़ा हो बावड़ी की तरफ देख रहा था। पुष्पवल्ली ने अपना कलश बावड़ी पर रखा और धनंजय के साथ उद्यान में चली गई।

अग्निवर्मा ने आँखें बन्द कर लीं। सोचने लगा—बहता पानी किसी एक का नहीं होता। पर बरबस फिर आँखें खोलता, दरवाजे पर खड़ा होता, उद्यान की ओर देखता, नीम तक देखता-देखता गया भी, पर सोचता-सोचता वापिस लौट आया। बहता पानी—ढाल चाहता है दिशा नहीं—जवानी बहता पानी है।

"नहीं···नहीं···" वह माथे का पसीना पोंछ दनादन छेनी मारने लगा। मूर्ति के उभरे वक्ष में से कल-कल करती संकीर्ण नदी बहाने लगा। छेनी चलती जाती।

६

धनंजय उन लोगों में से था, जो सुराख को सुरंग कर सकते थे। गाँव में उसकी अपनी जबर्दस्त टोली थी।

अगले दिन सवेरे बावड़ी के पास गाँव के नौजवान मिले। धनंजय ने कहा कि मन्दिर के लिए एक ऐसा व्यक्ति मूर्ति बना रहा है जिसको मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं है, और जो हिन्दू भी नहीं है। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे उसके विरुद्ध आन्दोलन करेंगे।

जब वे काम पर आए तो मन्दिर के निर्माता वृद्ध से शिकायत की। पर वृद्ध ने शिकायत अनसुनी कर दी। उन्हें समझाया कि भगवान् के कामों में किसी को तंगदिली शोभा नहीं देती। उनकी नज़रों में सब एक हैं। किसी मूर्ति की विशेषता उसके निर्माता के कारण नहीं होती···हर मूर्ति की अपनी विशेषता है···जब वह मन्दिर में प्रतिष्ठित होती है तो वह मन्दिर की हो जाती है···निर्माता का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। किसी व्यक्ति का भी उस पर विशेष असर नहीं होता।

पर नौजवानों ने उनकी एक न सुनी। वे गुनगुनाते जाते थे। काम ढीला कर दिया। आन्दोलन बढ़ता जाता था। स्त्रियाँ भी नौजवानों के साथ हो गईं। वे यह न चाहती थीं कि एक ब्राह्मण ग्राम में, ब्राह्मण मन्दिर में, एक अब्राह्मण द्वारा बनाई हुई मूर्ति प्रतिष्ठित की जाए। बावड़ी के पास वे भी इसी बात पर ज़ोर-शोर से वाद-विवाद कर रही थीं। कई का धनंजय से पारिवारिक सम्बन्ध था। कई पर उसका रौब

था। स्त्रियों में भी कम उम्र की कन्याएँ ही इस आन्दोलन में भाग ले रही थी।

जाने किस उद्देश्य से पुष्पवल्ली ने इस सुलगती आग के बारे में अग्निवर्मा को भी बता दिया था। वह भीरु प्रकृति का था···छाछ को फूंक-फूंककर पी ही चुका था, अब पानी में भी अंगारे देखने लगा था। वह भयभीत था; पर विवश। उस दिन वृद्ध भी उससे न बोले, वे चुप थे। शायद वे किसी विचार में थे किन्तु अग्निवर्मा को वे क्रुद्ध-से प्रतीत हुए।

दो-तीन दिन तक यह आन्दोलन चलता रहा। ग्रामिक को भी इसकी सूचना मिल गई थी। वे दो-तीन बार मन्दिर का चक्कर लगाने आए। वे किसी से कुछ न बोले। जो-जो अपने कार्य में शिथिलता दिखा रहे थे उनकी आँखें पड़ते ही सावधान हो गए। वे भी अग्निवर्मा से न बोले। वे किसी और उद्देश्य से आए थे, यह अग्निवर्मा न जान सका। वे भी उसे नाखुश नजर आए।

अगले दिन धनंजय की टोली ने वृद्ध से कह दिया कि वे काम न करेंगे। घनंजय भी उनके साथ था। वह उस दिन से फिर अग्निवर्मा की कुटिया पर न गया। पर कई ऐसे भी थे जो यथापूर्वक काम कर रहे थे; पर उनकी संख्या घटती जाती थी।

वृद्ध ने ग्रामिक से शिकायत की। उनको सारी परिस्थिति भी समझाई। दोनों ही इस प्रयत्न में थे कि मन्दिर जल्द से जल्द बने। उनको यह आन्दोलन पसंद न था। अगर वे गाँव के नवयुवकों को डाँटते डपटते तो हो सकता था कि वे और भी ज़िद पकड़ते। यदि वे अग्नि-वर्मा को जाने को कहते तो काम अधूरा रह जाता—फिर वे कहते भी कैसे? जो बातें नवयुवक अब कह रहे थे उनके बारे में वे पहिले ही परिचित थे। उसे काम ही नहीं देना चाहिए था, जब दिया था, तो काम के पूरा होने पर ही ग्रामिक उसे निवृत कर सकते थे।

यह एक विचित्र समस्या थी। इस प्रकार की घटना उस गाँव में

पहिले कभी न घटी थी। वे एक व्यक्ति के कारण गाँव के दसियों नौजवानों को दण्ड भी न दे सकते थे। पर अनुभव से वे जानते थे कि दो विरोधी पक्षों में से एक को कुछ काल तक दूर रखा गया तो विरोध स्वतः कम होता-होता खतम हो जायेगा।

ग्रामिक ने अग्निवर्मा को बुलावा। गाँव के नवयुवकों को भी खबर भिजवाई। ग्रामिक अपनी खटिया पर पेड़ के नीचे बैठे थे। उनके पास वृद्ध खड़े थे और चारों ओर ग्राम के नवयुवक। ग्रामिक के ठीक सामने अग्निवर्मा हाथ बाँधे खड़ा था, जैसे कोई अपराधी हो।

"अब मन्दिर करीब-करीब हो गया है···अगर काम ठीक चलता रहा तो एक-डेढ़ महीने में पूरा हो जाएगा। क्यों वृद्ध जी ?"

"हाँ, हाँ।"

"तो अब यह जरूरी है कि मन्दिर के लिए कलश तैयार किए जाएँ। आजकल के ज़माने में कोई नहीं जानता कि कब युद्ध छिड़ पड़े—कब गड़बड़ी हो। हम यह नहीं चाहते कि मन्दिर के निर्माण में किसी प्रकार की बाधा हो। इसलिए मैं चाहता हूँ कि अग्निवर्मा प्रतिष्ठान जाकर कलश वगैरह लाए। मैं वृद्ध जी को ही भेजता लेकिन उनके बगैर काम चलना मुश्किल है। और अग्निवर्मा के सिवाय आप लोगों में से कोई इस बारे में जानता भी नहीं है।

कोई कुछ न बोला। अग्निवर्मा भी चुप था। धनंजय की टोली वाले बड़ी-बड़ी आँखें कर एक-दूसरे की ओर देख रहे थे, जैसे मैदान मार लिया हो। पुष्पवल्ली धनंजय की ओर घूर रही थी। सर्वत्र निस्तब्धता थी।

"अग्निवर्मा के साथ में गाँव के दो-तीन आदमियों को भेजूँगा ताकि वे उसकी मदद कर सकें। प्रतिष्ठान उसके लिये नया है। क्यों अग्निवर्मा, तुम्हें स्वीकार है न ?" ग्रामिक ने कहा।

उसकी आँखों में आँसू छलक आए। ग्राम में रहते-रहते उसमें गाँव के लिए, ग्रामिक के लिए एक विचित्र मोह पैदा हो गया था। वह

ग्रामिक की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा मन ही मन कर रहा था। वृद्ध पेड़ की तरफ़ देखकर मुस्करा रहे थे—मानो कोई संकट टल गया हो।

"हम तुम्हारे साथ हैं—ग्राम तुम्हारे साथ है। तुम्हें डरने की कोई जरूरत नहीं है। जाओ। धनंजय भी तुम्हारे पास कई दिनों से काम सीख रहा है न ?" ग्रामिक ने पूछा।

अग्निवर्मा पहिले तो निश्चय न कर पाया कि हाँ कहे या न। फिर उसने "हाँ" कह ही दिया।

"तुम उसे मूर्त्ति के खाके दे देना···तुम्हारी अनुपस्थिति में वह मूर्ति बनाएगा। काम चलता रहना चाहिए।" ग्रामिक ने कहा।

धनंजय की टोली ने करतल ध्वनि की, पर वह स्वयं नीचे मुँह किये खड़ा था। पुष्पवल्ली हंस रही थी। झुण्ड तितर-बितर हो गया—और मन्दिर का कार्य यथापूर्वक चलने लगा।

१०

बावड़ी के पास खेतों की मेंढ़ पर से प्रतिष्ठान के लिए पगडंडी जाती थी। कुछ दिन पहिले अग्निवर्मा के गुरु उसी रास्ते सैनिकों द्वारा ले जाए गए थे और अब स्वयं अग्निवर्मा उसी राह पर लड़खड़ा रहा था। उसके पीछे धनंजय की टोली बड़ों के बहुत मना करने पर भी हो-हल्ला कर रही थी। धनंजय उनमें न था। ऐसा लगता था जैसे उसे देश-निकाला दिया गया हो।

पुष्पवल्ली भी छुपी-छुपी बावड़ी तक आयी। पर वह अग्निवर्मा से न बोल सकी—शायद वह उससे बोलने के लिए उत्सुक न थी। उसने दो आँसू भी बहाये, किन्तु अग्निवर्मा न देख सका; वह भाग्य को कोसता चलता जाता था। उसके साथ गाँव के दो हट्टे-कट्टे युवक थे। सख्त पहरा था।

प्रतिष्ठान का वहाँ से दो दिन का रास्ता था। रास्ता कभी नदी-किनारे जाता तो कभी पहाड़ियों में से गुजरता। पगडंडी पर कभी-कभी इक्के-दुक्के आदमी मिल जाते थे। वरना रास्ता सुनसान था।

तब भी प्रतिष्ठान की रौनक जा चुकी थी। वह एक ऐसे दुर्ग की तरह था जिसमें कोई सेना वास न करती हो। नगर में चहल-पहल न थी। बड़ी-बड़ी सड़कें सूनी मालूम होती थीं—बड़े-बड़े घर, हवेलियाँ खाली जान पड़ती थीं, कहीं-कहीं मकान गिर गए थे। नगर ध्वस्त था।

वे मन्दिर, जो कभी आकाश को चूमते थे, हीन अवस्था में थे।

चमचमाते कलश या तो टूट चुके थे, नहीं तो टूट रहे थे। उनमें न पूजा होती न घंटा नाद ही। मन्दिर शान्त थे।

वे राजमहल जहाँ सातवाहन राजाओं की रंगरेलियाँ होती थीं, अवहेलित थे। खण्डहर-से हो गये थे। वहाँ अब न सातवाहन थे न उनका राज्य ही। वे राजमहल किसी उज्ज्वल युग स्मारक से रह गये थे। वे परित्यक्त थे।

प्रतिष्ठान का व्यापार कभी का ठप हो चुका था। जहाँ लाखों का कारोबार होता था वहाँ मुश्किल से अब कोई नया व्यापारी आता। एक प्राचीन नगर जो कभी शक्तिशाली साम्राज्य का राज्य-केन्द्र था, सहसा निर्जन हो गया था।

ऐसा प्रतीत होता था मानो उस नगर में भूकम्प आ गया हो, आत्मा चली गई हो, कलेवर मात्र रह गया हो। वह विशाल नगर पास की पहाड़ियों का अंग-सा हो गया था, वह पत्थर का बना था, पत्थर में मिल रहा था। वह मृतप्राय था।

पर अब भी पुराने कुछ कलाकार, शिल्पी वहाँ थे। न उनको काम था न आय ही अधिक थी। कठिन साधना निष्फल जा रही थी। पुरानी चीज़ों को बेचकर जीवन निर्वाह कर रहे थे। सातवाहन नए क्षेत्र में थे, नए कलाकारों को प्रोत्साहन मिल रहा था।

वे ही मूर्तियाँ, जो कभी मन्दिरों में प्रतिष्ठित करने के लिए बनाई गई थी, पत्थर के दाम बिक रही थीं, तब भी खरीदनेवाले न थे। परित्यक्त मन्दिरों की परित्यक्त मूर्तियाँ अस्पर्श्य-सी हो गई थीं। कलश भी धातु के दाम बिक रहे थे। इसीलिए ही शायद ग्रामिक ने उसको प्रतिष्टान कलश लाने के लिए भेजा था।

अग्निवर्मा मन्दिरों की परिक्रमा के लिए निकला। एक के बाद एक मन्दिर देखता गया। पहाड़ी के पास उसे एक विचित्र मन्दिर दिखाई दिया —आधा मन्दिर बाहर था और आधा पहाड़ में खोद दिया गया था। मन्दिर अपूर्ण था। परन्तु एक-एक पत्थर कला की

दृष्टि से अनुपम था। कलाकार ने अपने भावों को मूर्त्त रूप दिया था। उन पर किसी पुराण का चित्रीकरण न था, पर कोई स्नेह-सिक्त करुण कहानी-सी थी। उस मन्दिर में कोई देवी भी प्रतिष्ठित न थी। किसी दिव्य मानव की दिव्य कल्पना का साकार रूप-सा था वह मन्दिर। दर्शनीय स्थल।

संयोगवश उसको एक स्तम्भ के समीप अपना पुराना सहपाठी दिखाई दिया। उन दोनों ने मिलकर नासिक में गुरु के पास शिक्षा पाई थी। वह स्तम्भ पर चित्रित मूर्तियों की परिश्रम से नकल कर रहा था। अग्निवर्मा उसे देख चौंका। फिर उसका अभिवादन किया।

"अरे तुम यहाँ कैसे ?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"और तुम ?" कीर्तिवान ने पूछा।

"हम···बहिष्कृत हैं···और बहिष्कृत तो भटकता ही रहता है।"

"···तुम बहिष्कृत हो···और हम अभागे हैं···गुरुजी को रुद्रदमन के सिपाही धन्यकटक ले गए हैं। उनकी तलाश में इधर-उधर मारे फिरते हैं।"

"अरे तुम !···" खम्भे के पीछे से मधुर आवाज़ में किसी स्त्री ने पूछा। उसकी आँखें नीचे थीं···और अवगुंठन पर मोटी-मोटी आँसू की बूँदें पड़ रही थीं। वह मैत्रेयी थी।

अग्निवर्मा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने आगे बढ़ना चाहा। पर पैर हिले नहीं। झेंप गया। उसने मैत्रेयी को निहारा···कुछ कहना चाहा। ओठ हिलकर रह गए, बात न निकली।

"तुम दोनों अकेले निकले हो ?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"हाँ, हाँ।"

"और कोई नहीं तुम्हारे साथ···?"

"नहीं तो।"

"निस्सहाय स्त्रियों को तो कोई न कोई सहारा चाहिए। आखिर साहसी कन्या भी क्या कर सकती है ? या तो आत्महत्या···नहीं तो

अपरिचित से विवाह···जीवन भर का अरण्य रोदन।" मैत्रेयी कहती-कहती सिसकने लगी।

"मेरा भी क्या दोष। मुझे तो नासिक से निकाल दिया गया था। बस चलता तो साथ ले जाता। अब चलो। मेरे साथ आओ, नासिक को भूल जाओ।" अग्निवर्मा ने मैत्रेयी के पास जाकर कहा। पर मैत्रेयी वह खम्भा छोड़कर एक और खम्भे के पास चली गई। अग्निवर्मा का पसारा हुआ हाथ पीछे हट गया।

"···पर···पर···" मैत्रेयी पीछे हटती जाती थी।

"तुम नहीं समझे···" कीर्तिवान कह रहा था।

"हाँ···हाँ···मैं जानता हूँ···खैर···" कहता-कहता···अग्निवर्मा यकायक मन्दिर से निकल गया। पीछे मुड़कर भी न देखा। कीर्तिवान चुप था।

मैत्रेयी खम्भे के सहारे खड़ी आँसू बहा रही थीं। अग्निवर्मा को लगातार देख रही थी। जब वह आँखों से ओझल हो गया तो बैठकर रोने-धोने लगी। फिर यकायक सँभल गई, जैसे कोई गल्ती कर बैठी हो। मन्दिर के अन्दर चली गई···और मूर्ति की तरह मूक बैठ गई···मानो किसी झंझा को लगाकर थाम रही हो। और कीर्तिवान क्रुद्ध, रुठा-सा खम्भे के पास नाखून से पत्थर कुरेदता बैठा था।

११

"फूल तोड़ने गए और टहनी सिर पर आ गिरी" पुष्पवल्ली धनंजय से कह रही थी। दोनों टीले पर नीम के पेड़ के नीचे खड़े थे। मध्याह्न का अवकाश था। धनंजय चिन्तित जान पड़ता था।

मन्दिर द्रुतगति से बनता जाता था···मन्दिर का शिखर···हाथ जोड़कर चारों ओर से कोणाकार में मिलता जाता था। कार्य समाप्त होता देख लोगों में उत्साह आ गया था।

धनंजय की टोली भी इसी कार्य में मस्त थी। उनमें विजय का उल्लास था। वे गाते-गाते अपना निश्चित कार्य करते जाते थे। पर धनंजय उदास था। पुष्पवल्ली उसको नित नए ढंग से छेड़ा करती थी।

"···तुम में साहस नहीं है···और इतने ईर्ष्यालु हो कि एक निर्दोष को भगा दिया। भला आदमी था अग्निवर्मा।"

"तुम उसकी बात न करो······" धनंजय ने कहा।

"अगर यह बात थी तो उन दिनों क्यों नहीं मिलने आये थे?"

"कितनी बार बताया···पर तुम समझोगी नहीं···औरत का दिमाग ज़बान पर होता है और दिल आँखों में···"

"बड़े दिल वाले हो तुम, वादा कुछ करते हो और करते कुछ हो। अग्निवर्मा की बात कुछ और थी।"

"कहा न उसकी बात न करो।"

"मैं करके ही रहूँगी।"

"अच्छा तो कर।" धनंजय लाल-पीला होता हुआ अग्निवर्मा

की कुटिया में गया । दरवाजे से पीछे की तरफ देखने लगा, पर पुष्पवल्ली, जैसे कि उसने आशा की थी, उस तरफ न आ रही थी । वह और स्त्रियों के साथ कलश लेकर टीले से नीचे उतर रही थी ।

अग्निवर्मा जिस अवस्था में कुटिया छोड़ गया था, उसी अवस्था में वह थी । जहाँ जो चीजें थीं, वहीं थीं—अधगढ़ी मूर्तियों पर छेनी न लगाई गई थी । खाके इधर-उधर पड़े थे । धनंजय ने किसी मूर्ति पर छेनी न चलाई । उसने कम से कम इतनी बुद्धिमत्ता दिखाई ।

यद्यपि वह मूर्ति बनाना न जानता था, तो भी वह बिगाड़ सकता था । उसने न बिगाड़ी । उसका यही सहयोग पर्याप्त था । दिन भर वह कुटिया में बैठा रहता…कभी-कभी बाहर पुष्पवल्ली से बातें करने चला जाता । उसे वृद्ध और ग्रामिक का अन्यत्र भय था ।

कुटिया में बैठे कुछ सूझता भी न था । मूर्तियाँ काटती-सी लगतीं । पुरानी बातें मन में खौलती रहतीं । वह बेचैन हो जाता ।

मन्दिर का काम पूरा हो रहा था । पर मूर्तियों के बनने में अभी काफ़ी काम था । धनंजय कभी-कभी यह भी सोचता कि अच्छा होता अगर वह अग्निवर्मा को व्यर्थ प्रतिष्ठान न भिजवाता । एक आफत रह गई थी, पर एक और कड़ी आफत में वह फँस गया था । कभी-कभी वह पछताता ।

अब उस पर एक जिम्मेदारी आ पड़ी थी, जिसे वह पूरी न कर पा रहा था । पूरी कर भी न सकता था । ग्रामिक के सामने वह दो-तीन बार असत्य भी बोल आया था ।

वह चाह रहा था कि अग्निवर्मा जल्दी से जल्दी वापिस लौटे । उसको गये हुए काफ़ी दिन हो गए थे । प्रतिष्ठान बहुत दूर न था, पर मार्ग अच्छा न था । धनंजय प्रतीक्षा में कई बार बावड़ी के पास जा बैठता । करने को वह मित्रों से खेल-खिलवाड़ करता रहता, पर नज़र प्रतिष्ठान की पगडंडी पर रहती ।

कुटिया में वह किसी मित्र को भी न आने देता था । उसे भय था

कि कहीं ग्रामिक तक यह शिकायत न पहुँच जाए कि वह खाली बैठा था। कुछ काम न कर रहा था। दरवाजे के पास अन्दर बैठा रहता।

ज्यों-ज्यों मन्दिर बनता जाता, उसकी उद्विग्नता बढ़ती जाती। यद्यपि पुष्पवल्ली का मकान टीले के नीचे था तो भी वह उन दिनों उस के घर जाने की हिम्मत न कर पाता था—पुष्पवल्ली के ताने-तश्मे न सह पाता था।

वह निस्सहाय था, विचित्र द्विविधा में था। वह किसी को यह भी न जानने देता था कि उसे मूर्ति बनानी नहीं आती हैं—उसने अग्निवर्मा से मूर्ति बनाना नहीं सीखा है। कहता तो एक और कठिनाई में पड़ता।

मूर्ति बनाने के लिए सवर्ण होना काफ़ी नहीं है, कारीगरी भी चाहिए। अगर सवर्ण होना काफ़ी होता तो हर पत्थर पूज्य हो उठता —यह धारणा इस द्विविधा के कारण भी धनंजय में शायद न आई थी। वह अब भी अपनी जाति के मद में मस्त था। साधना के सामने जन्म को ही श्रेष्ठ समझता था।

दिन कटते जाते थे और धनंजय की उलझनें बढ़ती जाती थीं।

१२

स्वाती नक्षत्र में वर्षा हुई और चातक प्यासा ही रह गया। मैत्रेयी के देखने के बाद अग्निवर्मा की यही हालत थी। अनायास वह मैत्रेयी से मिल गया था। भाग्य-विद्युत की तरह एक बार चमका, फिर वही घना अन्धकार।

अग्निवर्मा के लिए ग्राम में जीवन इतना उलझ रहा था कि नज़र बचाकर वह प्रतिष्ठान से कहीं निकट जाना चाहता था। पर अब वह ग्राम वापिस पहुँचने के लिए उतावला हो रहा था।

प्रतिष्ठान की खाली धर्मशाला में दो-चार दिन विक्षिप्त की तरह पड़ा रहा। कई बार उस मन्दिर की ओर जाने की ठानी कुछ दूर गया भी, पर पहुँचने से पहिले ही वापिस चला आया। मन निश्चय कुछ करता और वह करता कुछ और। अजीब हालत में था—वह मैत्रेयी को देखना चाहता और उससे दूर भी रहना चाहता। अपने को धिक्कारता। भाग्य को धिक्कारता।

शायद वह कुछ और दिन प्रतिष्ठान में ही पड़ा रहता यदि वह मैत्रेयी और कीर्तिवान को प्रतिष्ठान की गलियों में से पूर्व की ओर जाता न देखता। उसने अपनी आँखें मींच लीं। धर्मशाला के पिछवाड़े में चला गया। रोता रहा। फिर कलश उठाकर पागल की भाँति गाँव की ओर चल दिया। साथ के गाँववाले चकित थे।

टीले पर पहुँचते ही वह खुश था कि उसकी मूर्तियाँ बिगाड़ी न गई थीं, किसी ने उनको छुआ तक न था। उन्हें देखता बैठा रहा।

उषा काल था। कुटिया के दरवाजे में से अरुण किरणें आ रही थीं, नीले पत्थर की मूर्तियाँ संध्या की तरह चमक रही थीं। उनकी अँगु-लियाँ मूर्ति को पुचकारने-सी लगीं। छेनी लेकर वह उन्मत्त की तरह गढ़ने लगा।

थोड़ी देर बाद धनंजय आया। वह मुस्करा रहा था। हाथ में लट्ठ न था, आँखें भी न घूर रही थीं। मैत्री और स्नेह दर्शा रहा था।

"अरे आते ही तुम काम पर लग गए! कलश बहुत अच्छे चुने हैं...पिता जी से मिले? आओ, मैं उनसे कह आता हूँ।" धनंजय ने कहा।

अग्निवर्मा कुछ न बोला। धनंजय से उसने दूर रहने का निश्चय कर लिया था।

"तुम बड़े निपुण कलाकार हो। मैंने तुम्हारी अच्छी, बड़ी मूर्तियों को बिगाड़ना न चाहा। भले ही कुछ न बनाऊँ, पर बनानेवाले की प्रतिमा की प्रशंसा तो कर सकता हूँ। आओ।"

अग्निवर्मा तब भी चुप रहा। उठकर ग्रामिक से मिलने चला गया। रास्ते में पुष्पवल्ली का मकान था। उसने उस तरफ नज़र न उठाई। यद्यपि पुष्पवल्ली उसको लगातार देख रही थी।

ग्रामिक गम्भीर मुद्रा में वहाँ बैठे थे। वे पर्वत की भाँति थे—ऋतुएँ आतीं, चली जातीं, आँधी-तूफान गरजते, पर वे अपना स्वरूप बनाए रखते। उनके गाम्भीर्य में स्नेह था, अजीब आकर्षण था।

"क्यों, कलश, सुना है, अच्छे लाए हो। मन्दिर में ही रखे हैं न?" उन्होंने पूछा।

"जी हाँ।"

"तो चलूँ मैं भी देख आऊँ। प्रतिष्ठान में तुम्हें काफी दिन लग गए। अब क्या वह बिल्कुल उजड़ गया है?"

"जी, खण्डहर हो गया है।"

"हमारे बचपन में प्रतिष्ठान-सी नगरी न थी...उसके वैभव, ऐश्वर्य,

सौन्दर्य···सब निराले थे···दूर-दूर से यात्री देखने आते थे···सातवाहन गए और उसके साथ उसकी शोभा भी गई। धूप-पानी में एक दिया भी कब तक जलेगा ? नगर भी तभी तक रहते हैं जब तक उनकी कोई देख-भाल करने वाला होता है, नहीं तो वे उजड़ जाते हैं। माली न हो तो बाग भी वियावान जंगल हो जाता है। खैर।" ग्रामिक टीले की ओर चलते जाते थे और कहते जाते थे।

जब वे मन्दिर के प्राकार के पास पहुँचे तो उन्होंने पूछा, धनंजय ने कान तो खराब नहीं किया ? कहता था कि खाके के अनुसार काम कर रहा था···कुछ सीखा है कि नहीं उसने ?"

धनंजय अग्निवर्मा की ओर घूर रहा था। सावधान कर रहा था। प्रतिष्ठान छोड़कर अग्निवर्मा ग्राम में रहने आया था···फिर नदी में रहते मगर से कैसे वैर ? वह चुप रहा।

"काफी दिन हो गए हैं, कुछ तो अभ्यास हुआ ही होगा।"

"जी हाँ।"

ग्रामिक मन्दिर के अन्दर चले गए थे। कलशों को ठोक-ठोक कर परीक्षा कर रहे थे। वृद्ध भी उनके पास आ खड़े हो गए।

"क्या ये मन्दिर की चोटी पर फबेंगे ?"

"क्यों नहीं, अगर मैं भी जाता तो इनसे बढ़िया कलश न ला पाता।" वृद्ध ने अग्निवर्मा की पीठ थपथपाई। पर अग्निवर्मा मुस्कराया तक नहीं। वह उदास था।

ग्रामिक ने मन्दिर की परिक्रमा की। मन्दिर लगभग पूर्ण हो गया था। मूर्ति की प्रतिष्ठा की जानी थी। कलश रखवाने का प्रबन्ध भी वृद्ध करा रहे थे।

"आओ मूर्तियाँ देखें···इसने कैसे काम किया है ?" ग्रामिक अग्निवर्मा की कुटिया की ओर जा रहे थे। वे आगे-आगे थे। और पीछे अग्निवर्मा के साथ धनंजय हाथ मिलाकर चला आ रहा था।

"मूर्ति अच्छी है, कम से कम इसने काम बिगाड़ा तो नहीं है।

थोड़ा बहुत जरूर सीख गया है। क्यों बेटा, अब तुम अपने-आप कुछ क्यों नहीं बनाते हो ?"

"जी, जरूर बनाऊँगा।"

"अग्निवर्मा ! तुम इसको खूब काम दो। वह काम अच्छा कर रहा है।" अग्निवर्मा चुप था। "क्यों तबीयत तो ठीक है ?"

"जी हाँ।"

"अब थोड़े ही दिन का काम रह गया है। सब ठीक हो जाएगा।" ग्रामिक ने कहा। वे लाठी टेकते-टेकते टीले के नीचे वापिस चले गए।

धनंजय अग्निवर्मा का हाथ पकड़कर उछलने-कूदने लगा। वह बड़ा प्रसन्न था। अग्निवर्मा ने उसकी पोल न खोली थी। वह पहिले की तरह गम्भीर था।

वह फिर काम में लग गया। सवेरा हो चुका था। ग्राम के लोग मन्दिर में फिर काम करने आ गए थे। उन्हें मालूम हो गया कि अग्नि-वर्मा प्रतिष्ठान से वापिस आ गया था और अपनी कुटिया में था। वे टोली बनाकर कुटिया के पास हो-हल्ला करने लगे। अग्निवर्मा को ग्राम छोड़कर जाने के लिए कहने लगे।

उनका सरदार धनंजय दरवाजे से बाहर निकला और उनको शांत करने लगा, वह अपनी सुलगाई हुई आग स्वयं बुझाने लगा। उसकी टोली के सदस्यों को यह देख अचरज हुआ। पर वे उसका विरोध न कर सके। मुख बंद करके चुपचाप चले गए।

धनंजय कभी उनकी ओर देखता तो कभी अग्निवर्म की ओर। वह फूला न समाता था।

१३

दिन बीतते गए, काम करीब-करीब पूरा हो गया। पर अग्निवर्मा की उदासी अब भी जारी थी। वह पहिले से कहीं अधिक अन्यमनस्क हो गया था। काम में लगा रहता और धनंजय उसके पास इस तरह मँडराता रहता—मानो वह ठेकेदार हो, और वह एक मामूली मज़दूर। मन्दिर के 'कलश' पूरे हो चुके थे···चार-दीवारी भी बन गई थी। चारों ओर वृक्ष लगाये जा रहे थे। प्रांगण साफ किया जा रहा था। काम करनेवालों की संख्या भी कम हो गई थी।

मूर्तियों पर चमक लगाई जा रही थी। धनंजय भी इस काम में मदद देता। यद्यपि अग्निवर्मा को मदद की जरूरत न थी। वह मीठी-मीठी बातें अग्निवर्मा का मन बहलाने के लिए करता। उसकी तारीफ करता, खुशामद करता, हर तरह से खुश करने की कोशिश करता।

एक दिन शाम को वह अपनी बैलगाड़ी ले आया। बैल सजे हुए थे। कोई त्योहार न था। खेतों में भी कोई काम न था। उसने अग्नि-वर्मा को साथ आने के लिए कहा। पहिले तो उसने आनाकानी की पर उसके बहुत मनाने पर वह मान गया।

गाड़ी नदी की तरफ चल दी। उसी रास्ते पर जिस रास्ते वह कुछ महीनों पहिले भूखा, नंगा, पैर घसीटता-घसीटता उस गाँव में आया था। नदी की तरफ से ठंडी हवा चल रही थी। सुहावना समय था और अग्निवर्मा अनायास अपनी दर्द-भरी स्मृतियों की कुरेद रहा था। गाड़ी गाँव से बाहर निकली···पुष्पदल्ली किलकारी मारती हुई

एक पेड़ के पीछे से आई। उसके अंग-अंग से यौवन फूट रहा था। इतनी चुलवुली कि संयमी की आँखें भी बेकाबू हो जाती थीं। वह भी आकर गाड़ी में बैठ गई अग्निवर्मा से सटकर।

धनंजय गाड़ी हाँक रहा था। अगर पहिले कभी पुष्पवल्ली को अग्निवर्मा के पास बैठा देखता तो वह लाल-पीला होता, घूरने लगता, पर आज न जाने वह क्यों मुस्करा रहा था। अग्निवर्मा को यह चाल-सी लगी। वह सावधान था।

"मैं तो सोच रही थी कि तुम प्रतिष्ठान से वापिस ही न आओगे?" पुष्पवल्ली ने पूछा।

"इन्होंने न बोलने की शपथ कर रखी है, क्यों व्यर्थ बुलवाती हो?" धनंजय ने कहा।

"अब तुम आ हो गये वरना गोपिकाओं को कन्हैया को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते द्वारिका जाना पड़ता।"

"कितनी गोपिकायें हैं इनकी?" धनंजय ने पूछा।

"गाँव की औरतें ही अजीब हैं। जब तक ये यहाँ रहे, किसी ने कुछ न कहा; पर जब ये नजर न आये तो सब कानाफूसी करने लगीं, भगवान् ने तुम्हें शक्ल भी क्या दी है?"

अग्निवर्मा चुप हो सोच रहा था। उसे सन्देह था कि धनंजय ही पुष्पवल्ली को साथ लाया था। पर पुष्पवल्ली अग्निवर्मा को भी तो चाहती थी। धनंजय को पुष्पवल्ली का उसकी तरफ देखना भी गवारा न था फिर वह पुष्पवल्ली को क्यों लाता? क्या बात है? इतने में नदी का परिचित किनारा आ गया।

वे नीचे उतरकर किनारे पर बैठ गए। बैल एक पेड़ के नीचे बाँध दिए गए। इधर-उधर की बातें होने लगीं। पुष्पवल्ली ने प्रतिष्ठान की भी बात सुनाई। वह छुटपन में कभी वहाँ रह चुकी थी। "कहते हैं, वहाँ मन्दिरों में वे नृत्य होते थे कि पत्थर भी ताल देने लगते थे। मेरी माँ के कुछ सम्बन्धी थे वहाँ, पर फिर वह जमाना आया जब

कुछ लोग मन्दिरों में नृत्यों का विरोध करने लगे, पुजारियों का ही अधिक विरोध था। नृत्य बन्द कर दिए गए, पर नृत्यों की माँग बढ़ती गई। राजा ब्राह्मण प्रेमी थे। वे ब्राह्मणों की माँग का तिरस्कार न कर सकते थे, न जनता की माँग की ही अवहेलना कर सकते थे। उन्होंने एक उपाय निकाला जिससे जनता भी खुश रहे, और पुजारी भी नाराज न हों।"

"क्या था वह उपाय ?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"यानी जब बात मतलब की होती है तब तुम भी अपना मुख खोल लेते हो। हाँ, तो उपाय यह था कि उन्होंने अपने शिल्पियों को आज्ञा दी कि वे मन्दिर को इस तरह अलंकृत करें कि खम्भे-खम्भे पर नृत्य-भंगिमा हो ताकि जनता बिना नृत्य के नृत्य का आनन्द ले सके। तुमने देखे नहीं हैं क्या वे मन्दिर ?

"देखे हैं, पर अब उनको देखने वाले ही कम रह गए हैं।"

"अब लोग नृत्य ही देखते होंगे। कहो तो मैं नाचूँ।"

अग्निवर्मा झेंप-सा गया। धनंजय भी कोई बहाना कर उसको अकेला पुष्पवल्ली के साथ छोड़कर कहीं चला गया। पुष्पवल्ली कभी उसके पास आकर बैठती तो कभी इधर-उधर फुदकती। पत्थर तो था नहीं, फिर कितने दिन उदास रहता ? भावुक हृदय कब तक शांत रहता ? कुरेदते रहने से तो घाव नहीं भरता, प्रेम-दर्द की प्रेम ही तो दवा है। भले ही चोट करनेवाला कोई और हो, और इलाज करने वाला कोई और। अग्निवर्मा उसके साथ मन-बहलाव करने लगा।

काफी देर बाद धनंजय वापिस आया। अंधेरा हो चला था। गाड़ी तैयार कर वे फिर वापिस गाँव जाने लगे। गाड़ी में पुष्पवल्ली आँखें मींचकर सो रही थी और यह भी सम्भव है कि सोने का अभिनय कर रही हो।

अब मूर्तियाँ तो बन गई हैं।" धनंजय ने कहा, कल-परसों प्रतिष्ठित की जायेंगी।"

"हाँ, हाँ।"

"लोगों का यह ख्याल है कि तुम्हारे कहने पर मैंने वे बनाई हैं।"

"हूँ ?"

"हाँ, वे यह नहीं चाहते कि एक अब्राह्मण की मूर्तियाँ, एक ब्राह्मण ग्राम के मन्दिर में प्रतिष्ठित हों इसलिए एक ही रास्ता है कि तुम मान जाओ कि मूर्तियाँ मेरी बनाई हुई हैं। मैं भी कौन-सा अनाड़ी हूँ। अगर मैं न होता तो तुम्हारी एक मूर्ति न बचती। एक बार लोग तोड़ने भी आए। मैंने ही बचाया था। अगर तुम न मानो तो क्या भरोसा कि वे फिर न तोड़ेंगे ?

"पर उन्हें बनाया तो मैंने ही था, यह तुम भी जानते हो।"

"मेरे पिता जी का भी यही ख्याल है कि मैंने एक मूर्ति बनाई है, उसी को प्रतिष्ठित किया जाएगा।

"पर सारा गाँव जानता है···"

इससे पहिले कि अग्निवर्मा कुछ कहता धनंजय ने कहा, "सारा गाँव यह भी जानता है कि मैं तुम्हारे साथ काम कर रहा था। फिजूल गाँव में झगड़ा होगा। ग्रामिक···"

"ग्रामिक···क्या ग्रामिक ?"

"नहीं, यूं ही···सोच लो, समझ लो ?" अग्निवर्मा फिर चुप हो गया। वह अब जान गया कि क्यों धनंजय उसको अकेला पुष्पवल्ली के साथ नदी-किनारे ले गया था। पहिले की उदासी उसके मुँह पर जम-सी गई।

१४

आहत की तरह अग्निवर्मा रात भर बैठा रहा। उसको कई विचित्र अनुभव हुए थे, पर ऐसा विचित्र अनुभव पहिले कभी न हुआ था। कड़वा, कंटीला।

उसने पहली बार जमकर अकेले मूर्तियाँ बनाई थीं। मंदिर का काम था। उसके काम में भक्ति और लगन थी। उसका परिश्रम असाधारण था। मेहनत उसकी थी, और नामवरी किसी और की होगी। केवल इसीलिए कि वह विशेष जाति में न पैदा हुआ था··· इसलिए क्या उसके साथ अन्याय किया जा सकता है ?

मनुष्य होने के नाते, क्या वह न्याय, नामवरी का अधिकारी नहीं है ? क्या ये सब किसी विशेष जाति की बपौती है। भगवान् के रूप अनेक हों, नाम अनेक हों, भक्त अनेक हों,—पर क्या उसके कल्पित रूप को पत्थर में साकार करने का उसे अधिकार नहीं है। क्या वह भी उनकी तरह नहीं है, जो यह समझते हैं कि वे औरों से उच्च हैं, इसलिए उच्च अधिकारों के पात्र हैं।

भगवान् पूज्य हैं, क्या पूजा प्रतिमा द्वारा हीं सम्भव है ? अगर सम्भव भी है तो क्या इने-गिने लोग ही उसकी पूजा कर सकते हैं ? क्या पूजा की यही एक विधि है ? सर्वव्यापी को पत्थर में समा देना कला ज़रूर हो सकती है पर क्या वह किसी व्यापक विचार का द्योतक हो सकता है ? ये भी विचित्र भक्त हैं ?

ये मूर्तियाँ मुझे उतनी ही प्यारी हैं जितनी कि एक पिता को

उसकी सन्तान हो सकती है ? क्या कभी कोई पिता अपनी सन्तान को दूसरों को देता है ? कलाकार--पिता ही नहीं—पिता, माता दोनों है—वह बीज भी है भूमि भी। माता की तरह वह अपनी कृतियों को अपने गर्भ में रखता है--परिश्रम से उन्हें भौतिक रूप देता है···। जब वाह-वाह की बारी आती है तो उसको पितृत्व के हक से वंचित किया जा रहा है। अजीब धांधली है !

इस तरह के विचार, भिन्न-भिन्न रूपों में, अग्निवर्मा के मन में उठते जाते—वह कभी बैठता तो कभी कुटिया में चहलकदमी करने लगता। जब उसको विचार जकड़ने-से लगते, तो बाहर चला जाता। मन्दिर की परिक्रमा करता। फिर हाथ मलता-मलता कुटिया में आ जाता। विचारों ने करवट बदली।

"क्या मैं ही इस मूर्ति का रचयिता हूँ ? मुझ में और अन्य लोगों में क्या भेद है ? वे क्यों नहीं बना पाते ? मैं ही क्यों बना पाता हूँ ? यह मेरा कार्य नहीं, मैं साधन मात्र हूँ— भगवान् की चीज़ है—क्या हुआ अगर इसको अपना समझने के लिए कोई दाँव पैंतरे खेल रहा हो ? जो जैसा करेगा वैसा पाएगा।" वह सोचता-सोचता विह्वल हो उठता—विचार थमते, उनका रुख बदलता। फिर ये ही ख्याल किसी और शक्ल में हाजिर होते।

"अकाल में—विपत्ति में पिता भी सन्तान को छोड़ बैठता है—दोनों दूर-दूर हो जाते हैं—एक-दूसरे को खो बैठते हैं।" वह मूर्ति के पास जाकर बैठ गया ; उसका गला घुटने-सा लगा।

"पर वह निर्दय पिता है, जो जान-बूझकर सन्तान को दे देता है—भगवान् ने यह मुझे दी है—मैं इसे किसी और को नहीं दे सकता। नहीं, नहीं यह मेरी है···मेरी रहेगी, कुछ भी हो···" उसने निश्चय कर लिया। आँखें मिच गईं। वह सो गया।

सवेरे-सवेरे वह उठा दिया गया। धनंजय की टोली वहाँ खड़ी

थी। हो-हल्ला कर रही थी। उनके हाथों में लट्ठ थे। धमका रहे थे। अग्निवर्मा चुप रहा। मूर्ति की तरह बैठा रहा।

"तुम गाँव छोड़कर चले जाओ वरना..."

अग्निवर्मा हक्का-बक्का बैठा था। यह ऐसा वरना था जिसकी उसने इतनी शीघ्र कल्पना न की थी।

"सोच लो, समझ लो..." वे एक-दो बार चिल्लाए। वे चले गए। धनंजय वहीं खड़ा रहा। उसके साथ दो-एक और साथी थे।

अग्निवर्मा उनके जाने के बाद टीले से उतरा। वह ग्रामिक के घर की ओर जाने लगा। शायद वह ग्रामिक के इस सम्बन्ध में शिक़ायत करना चाहता था।

पर धनंजय ने रास्ता रोककर कहा—"उनके पास गए तो हड्डी-पसली एक कर दी जाएगी। खबरदार, किसी को कुछ मालूम हो।"

अग्निवर्मा करता तो क्या करता? वह नित्य कृत्य मे निवृत्त होने गया तो भी उसके पीछे धनंजय के आदमी लगे हुए थे।

वह बावड़ी पर गया। धनंजय की टोली तब तक वहाँ जमा हो चुकी थी।

"आओ, हमारे साथ चलो—हम कुछ न करेंगे।" उन लोगों ने कहा।

वे उसको पत्थर की खान की तरफ ले गए। खान सूनी पड़ी थी। मन्दिर का काम हो चुका था। पत्थर की जरूरत न थी। बड़े-बड़े गढ़े थे। दूर तक कोई न दिखाई देता था। अग्निवर्मा को वे उस गढ़े में ले गए।

"हमने सोचा था कि वक्त देने से तुम मान जाओगे पर तुम ग्रामिक से शिकायत करने की सोचने लगे। अभी हमें बताओ कि हमारी बात मानते हो कि नहीं?" धनंजय बोला। और उसके साथ टोली के लोग भी आँखें दिखा रहे थे।

"नहीं, मैंने सोच लिया है। मैं अपनी चीज़ को पराया नहीं कर

सकता। यह नहीं होगा।" अग्निवर्मा काँपती आवाज़ में कह रहा था।

"अच्छी तरह सोच लो!" वे फिर चिल्लाये।

"मैंने खूब सोच लिया है। यह नहीं होगा, लोगों को शर्म नहीं आती? अपने को ब्राह्मण कहते हो और ये नीच काम करते हो!"

अग्निवर्मा का यह कहना था कि उस पर चारों ओर से लाठियाँ बरसने लगीं। अग्निवर्मा चिल्लाया भी नहीं। मार पड़ती गई। वह बेहोश हो गिर गया।

थोड़ी देर बाद टोली के कुछ लोग उसको उसी अवस्था में नदी-किनारे छोड़ आए।

१५

उसे जब होश आई तो वह फिर ग्राम की ओर न गया, जा भी नहीं सकता था। वह लड़खड़ाता प्रतिष्ठान की ओर चलने लगा। फिर पुरानी कहानी दुहरा रही थी।

एक ओर अनेक के वैराग्य में सदा औचित्य का ख्याल नहीं रहता। वह संख्या के दबाव में लुप्त-सी हो जाती है। एक को अनेक के सामने झुकना पड़ता है—नहीं तो वह कुचल दिया जाता है। उसके मरने के बाद कभी-कभी समष्टि पछताने लगती है, और उसको शहीद के ओहदे पर बिठा देती है।

अग्निवर्मा नवयुवक था, अधमरा। न विचार ही पके थे, न कला ही सधी थी। इतने थपेड़े खाये थे कि झुकने की आदत हो गई थी। अगर कुछ समय तक मुकाबला भी करता तो थोड़ी देर बाद पाला छोड़ देता। हरेक का अपना-अपना स्वभाव है।

× × ×

प्रतिष्ठान का वह मन्दिर, जिसमें उसे मैत्रैयी और कीर्तिवान दिखाई दिए थे, अब उसका वासस्थल था। वह वहीं पड़ा रहता। भूखा, प्यासा, कराहता, तड़पता। छेनी तक न छूता। कभी-कभी पत्थर को इस तरह छूता मानो किसी मृत व्यक्ति की नब्ज देख रहा हो।

उसे न मूर्ति आकर्षित करती, न अनगढ़े पत्थरों में मूर्तियों के अस्पष्ट रूप दिखाई देते। पत्थर पत्थर थे, और मूर्तियाँ भी पत्थर थीं। कभी पत्थर उसके लिए मूर्तियाँ थीं, और मूर्तियाँ जीते-जागते प्राणी।

वह पागल-सा रहता। न अपनी फिक्र और न दूसरों की फिक्र। प्रतिष्ठान की सुनसान गलियों में धूल-धूसरित हो घूमता-फिरता। कोई खाने को देता तो खा लेता, नहीं तो खोया-खोया, कुछ खोजता-सा भटकता रहता। रात में जाकर मन्दिर में पड़ा रहता।

जीवन में कोई क्रम न था, उसकी हालत टूटी गाड़ी-सी थी—जो चल न सकती थी, वह अशक्त था। निरुत्साह, हताश।

वह चेहरा, जिसे देख अपरिचित स्त्रियाँ भी आकर्षित होती थीं, अब विकृत-सा हो गया था। बड़ी दाढ़ी, सूखे गाल, शक्तिहीन आँखें, मैला माथा। बिखरे बाल, अब भी आकर्षण था, पर वह आकर्षण नहीं, जो स्नेह पैदा करता है, पर वह जो दया उपजाता है।

दिन गुजरते जाते थे। वह निष्क्रिय पड़ा रहता। कभी धन्यकटक जाने के सपने देखे थे…पर अब वह उजाड़ नगरी में ही अपने को खोये बैठा था। अभिलाषा की वे ज्वालायें जो कभी आकाश को चूमती थीं शायद अन्दर ही अन्दर घुटी-घुटी राख हो रही थीं।

वह निस्नेह दिये की तरह था, उसे न व्यक्ति का स्नेह प्राप्त था, न समाज का आदर ही। उजाड़ प्रतिष्ठान नगरी भी उससे भली थी, वह कभी खिली थी, पर इससे पहिले कि वह खिलता, उसकी पंखुड़ियाँ कुम्हलाने-सी लगी थीं।"

× × ×

एक दिन उजाड़ प्रतिष्ठान में भी सहसा हलचल होने लगी। शून्य मन्दिरों में घंटे बजने लगे। नगर में हो-हल्ला प्रतिध्वनित होने लगा। आदमियों के झुण्ड के झुण्ड, पश्चिम से चले आते थे, त्रस्त, भयभीत।

वृद्ध, बाल, स्त्रियाँ—परिवार के परिवार कहीं से उखाड़ फेंक दिये गए थे—और उजाड़ प्रतिष्ठान में आश्रय ले रहे थे। वे घर, जहाँ दिन में चमगादड़ रहते थे और रात में जन्तु-जानवर, अब मनुष्यों के वास बन गए थे। वहाँ रोशनी होती थी।

सर्वत्र हाहाकार था। लोग रो-पीट रहे थे। कई आहत थे। कई

रोगी और निर्बल थे। जीर्ण-शीर्ण अवस्था में कई मर रहे थे। परन्तु उनके हाहाकार ने मृत-प्राय प्रतिष्ठान में नवजीवन संचरित कर दिया था।

शहर में घूमता-घूमता अग्निवर्मा एक बड़ी हवेली में बैठ गया:—अन्दर कितने ही परिवार थे। थोड़ी देर में वह क्या देखता है कि पश्चिम से धूल आ रही है। वह हवेली छोड़कर मन्दिर में चला गया।

मन्दिर में घुसा ही था कि अश्वों का टप-टप शब्द आने लगा—आता रहा, कोई सेना आ रही थी। स्त्री-बच्चे चिल्लाने लगे। उस उजाड़ नगर को भी वे सैनिक लूटने लगे। आदमियों को पीटते, स्त्रियों का स्त्रीत्व नष्ट करते—हिंस्र जन्तु, निस्सहाय व्यक्तियों पर लगता था, छोड़ दिए गए हों। उनके जघन्य, नृशंस कृत्यों से प्रतिष्ठान की सड़कों पर रक्त बहने लगा।

आंधी की तरह आए और पूर्व की तरफ चलते गए। थोड़ी दूर जाने के बाद वे उत्तर की ओर मुड़ गए। ऐसा जान पड़ता था कि वे किसी का पीछा करते आए हों और खोज करते-करते आगे जाकर, अब वापिस जा रहे हों।

ये हत्याकाण्ड देखकर अग्निवर्मा का भी रक्त खौला। वह लोगों की मदद करने पहुँचा। वह सहसा सक्रिय हो गया।

वह जिस परिवार में पहुँचा वह परिचित था। उन्हें देखकर वह चौंका। वे ग्रामिक के सम्बन्धी थे। उसी ग्राम से आये थे। सौभाग्यवश वे जीवित थे। उनके परिवार में कई आहत हो चुके थे और कई मर चुके थे।

"तुम कब आए?" उस व्यक्ति ने कहा। वह अधेड़ था। और एक बड़े परिवार का मुखिया था। स्वास्थ्य भी अच्छा न था। उसने भी अग्निवर्मा को पहिचाना।

"आप क्यों ऐसा कह रहे हैं?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"वे ग्राम से यहाँ खदेड़ लाए हैं···अब भगवान् जाने कहाँ जाना पड़े।" उस व्यक्ति ने फिरकर कहा।

"आखिर बात क्या है ?"

"···तुम तो जानते ही हो कि हमारे गाँव ने सातवाहनों के विरुद्ध लड़ने के लिए रुद्रदमन की सेना में सैनिक न भेजे थे। वह चिढ़ा हुआ था। अब क्रुद्ध है। फिर युद्ध शुरू होने वाला है। रुद्रदमन को डर है कि हम सातवाहनों के साथ न मिल जाएँ। हमारे ग्रामिक उसके विरुद्ध थे। उसको यह भी सन्देह हुआ कि वे उसके विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। ग्रामिक को उन्होंने मार दिया, उनका सारा परिवार नष्ट कर दिया गया। आदमी जब चिढ़ जाते हैं तो मौके की तलाश नहीं करते। हम लोग ब्राह्मण हैं। खाता-पीता गाँव है, सब उजाड़ गए दुष्ट।"

"तो सारा गाँव उजाड़ दिया गया है ?"

"हाँ, हाँ, अब वहाँ कुछ नहीं है।"

"सारा गाँव ?"

"हाँ, हाँ।"

"नया मन्दिर भी ?"

"हाँ, हाँ, अभी-अभी मूर्ति प्रतिष्ठित हुई थी कि खूँखार सैनिक आ धमके और मन्दिर को धराशायी कर गए। मूर्तियों को तोड़-ताड़ कर दूर फेंक दिया। ये लोग हिन्दू तो हैं नहीं कि हमारे देवी-देवताओं की मर्यादा करें।"

"तो मन्दिर भी तोड़ दिया गया ?" पूछते-पूछते उसका चेहरा और खिन्न हो गया—और कुछ सोच न पाया—फिर प्रश्न को उसने दुहराया।

"हाँ, हाँ।"

उसने थोड़ी देर बाद पूछा, "ग्रामिक अब वहाँ नहीं हैं ? मूर्तियाँ तोड़ दी गई हैं ?" उसके कुम्हलाए हुए चेहरे पर जाने क्यों मुस्कराहट आ गई।

"वृद्ध जीवित हैं क्या ?"

"हाँ, हाँ, सौभाग्यवश—वे हमारे साथ आये थे, पर यहाँ रुके नहीं···आगे चलते गये—सैनिक उनका पीछा करने गए थे—पता नहीं क्या हुआ ?" वह व्यक्ति अभी कुछ और कहना चाहता था कि अग्नि-वर्मा पूर्व की ओर उन्मत्त की तरह भाग चला।

ऐसा लगा जैसे गाड़ी यकायक ठीक हो गई हो। कुम्हलाई हुई पंखुड़ियाँ फिर खिल उठी हों, दिशा-भ्रष्ट को दिशा-ज्ञान हो गया हो। जीने की लालसा फिर प्रबल हो उठी। पत्थर से मूर्ति बनाने की इच्छा फिर बुलबुलाने लगी। वह पूर्व की ओर—उगते सूर्य की ओर—चलता गया।

१६

प्रतिष्ठान के बाद के मार्ग की वही हालत थी, जो प्रतिष्ठान की थी। ऊबड़-खाबड़, सुनसान, रोड़, पत्थर, काँटे, झाड़ियाँ। थोड़ी दूर तक तो राहगीर भी कहीं न दिखाई दिए। टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता था। अग्निवर्मा सावधानी से चलता जाता था।

काफ़ी रास्ता तय हो गया। रास्ते में दो-चार गाँव मिले भी, पर वे मृत से थे। जनता कहीं भाग चुकी थी, इक्के-दुक्के मवेशी जुगाली करते इधर-उधर दिखाई देते। सारा प्रान्त खाली नज़र आता था। खेत भी खाली थे। भयावना दृश्य था। दूर क्षितिज में धूल के बादल दिखाई देते थे। वे ही मनुष्य के अस्तित्व की सूचना दे रहे थे। वे कौन थे? किस तरफ जा रहे थे? क्यों जा रहे थे? इन प्रश्नों का उत्तर अग्निवर्मा को न मिल पाता था।

वह चलता जाता था। वृद्ध का कहीं पता न लगा। पर अग्निवर्मा को इसका संतोष था कि वे धन्यकटक के रास्ते पर हैं। धन्यकटक अब उसके लिए ध्रुवतारा था।

उसके जीवन में एक नया अध्याय प्रारम्भ हो गया था। उसको लगता था जैसे भाग्य उसका साथ दे रहा हो। वह खुश था कि जिस चीज़ को वह अपनी न कह पाया था, वह अब, किसी की न हो पाई थी। उसकी निराशा का कारण स्वतः हट गया था। उसमें नई स्फूर्ति थी। निश्शक्त था, पर उसकी चाल में असाधारण स्फूर्ति थी।

पहाड़ का नुक्कड़ पार कर वह बीयाबान जंगल में जा रहा था।

यकायक उसको एक बुढ़िया आगे जाते दिखाई दी। वह अकेली थी। कमर झुकी हुई थी। कंधों पर कपड़े चीथड़े हो चुके थे। बाल सफेद, सिर आगे-पीछे करती, लाठी के सहारे वह दो-चार कदम चलती फिर किसी पत्थर पर, पेड़ के नीचे सुस्ताने लगती।

सड़क अब सीधी थी। काफ़ी दूर से अग्निवर्मा देखता आ रहा था। उसे उस जंगल में एक यात्री का साथ मिल रहा था। भले ही वह बुढ़िया हो। यह सोचकर उसके कदम थकान के बावजूद तेजी से आगे बढ़ रहे थे।

वह जल्दी-जल्दी उसके पास पहुँच गया। "क्यों, कहाँ जा रही हो ?" अग्निवर्मा ने उत्सुकता से पूछा। पहले तो बुढ़िया चौंकी, फिर कहने लगी, "मेरे पास कुछ नहीं है। चाहे तो देख लो। जो था सो उन्होंने लूट लिया है।"

"मैं लुटेरा नहीं हूँ।" अग्निवर्मा ने कहा।

"नहीं, तुम रुद्रदमन के सिपाही..."

"नहीं, मैं सिपाही भी नहीं हूँ। तुम जैसा राहगीर हूँ।"

"भगवान् करे कि कोई हम जैसा बदनसीब राहगीर न हो। कहाँ जा रहे हो बेटा ?"

"वन्यकटक के लिए निकला हूँ।"

"बहुत दूर है। तुम बड़े नादान मालूम होते हो। जानते नहीं कि युद्ध छिड़ा हुआ है ? सिपाही नहीं देखे ?"

"देखे हैं। तुम कहाँ जा रही हो ?"

"घर से निकाल दी गई हूँ। घर में रह नहीं सकती। गाँव तहस-नहस कर दिया गया है। कोई अपना जीवित नहीं रहा। कहीं न कहीं तो जाना ही होगा। निकल पड़ी।"

"तुमने किसी परिवार को जाते देखा था।"

"एक क्या कितने ही भागे जा रहे हैं। शायद वे अगले पड़ाव पर हों।"

"हूँ,...तो युद्ध छिड़ा हुआ है ? किन-किन का ?"

"...सातवाहनों के राजा ने राजा रुद्रदमन पर धावा बोल दिया है। जो गाँव कभी सातवाहन का साथ देते थे, एक दम नष्ट कर दिए गए हैं। हमारे गाँव ने इन्हीं सातवाहनों का नमक खाया था ?...कहा नहीं जाता बेटा, बैठो, थोड़ा सुस्ता लूं।"

बुढ़िया लठिया टेककर बैठ गई। हाँफ रही थी। अग्निवर्मा ने आगे जाना चाहा। दो-चार कदम आगे गया भी, पर अकेली बुढ़िया को देखकर वह वापस आ गया।

"क्यों बेटा, किसको खोज रहे हो ?"

"मैं ? मेरे गुरु को...वे भी एक ऐसे ग्राम में रहते थे, इसी रास्ते जा रहे हैं।"

"अच्छा तो जाओ, मैं तो बुढ़िया हूँ, आज नहीं तो कल श्मशान जाऊँगी ही। तुम जवान हो, जाओ।"

अगर वह यह नहीं कहती तो अग्निवर्मा थोड़ी देर इन्तजार करके चला जाता। बुढ़िया में उसे कोई आकर्षण दिखाई दिया। उसको छोड़कर जाना उसे उचित न लगा। वह भी कोई साथी चाहता था। दूर से यही सोचता आया था। पर अब उसको बुढ़िया खींचती-सी लगती थी।

"अकेले निकले हो ? क्या तुम्हारा कोई नहीं है ?" बुढ़िया ने पूछा।

"नहीं तो।"

"होशियारी से जाना...इसी रास्ते रुद्रदमन के सिपाही जा रहे हैं। वे आते-जाते पर अपनी तलवार तेज़ करते जाते हैं। तुम तो कतई निहत्थे नज़र आते हो।

"हाँ।"

फिर वे उठकर चल दिए। चलते जाते थे। क्षितिज की वह धूलि जो कभी दूर लगती थी, निरन्तर निकट आती जाती थी।

"तुम कौन हो बेटा ?" बुढ़िया ने पूछा।

"क्या अच्छा होता कोई मुझे जान पाता ? कई मुझे शक कहते हैं। कई यवन । भगवान् जाने मैं कौन हूँ ?"

"ये सिपाही भी तो वे लोग हैं। तो तुम्हें वे मारेंगे नहीं ।" बुढ़िया कह रही थी कि बीच में अग्निवर्मा ने कहा, "पर मेरी शक्ल सूरत ऐसी है कि वे भी मुझे अपना नहीं मानते, वे मुझे ब्राह्मण समझते हैं ।"

"हैं !" बुढ़िया को आश्चर्य हुआ ।

रास्ता एक नाले में से जा रहा था, जहाँ कभी पुल था, अब केवल बड़े-बड़े पत्थर रह गये थे । आस-पास बड़े-बड़े पेड़ों की साया थी । चिड़ियाएँ चहचहा रही थीं, पर कहीं कोई आदमी नहीं दिखाई पड़ता था । नाले में पैर लटकाकर अग्निवर्मा, पत्थर पर बैठ गया । बुढ़िया भी पासवाले पेड़ के नीचे लेट गई ।

थोड़ी देर बाद सामने से अश्वों की चाप सुनाई दी । शब्द तेज होता जा रहा था । अग्निवर्मा को सैनिकों का संदेह हुआ—उसने बुढ़िया को उठाया । वे कहीं पेड़ की आड़ में भाग रहे थे कि पीछे से कठोर आवाज आई ।

"ठहरो !"

अग्निवर्मा डर के कारण भागता गया । सैनिको को भी सन्देह हुआ । वे उसका पीछा करने लगे । उसको पकड़ लिया । अग्निवर्मा भय से सूखा पत्ता हो गया था । बुढ़िया काँप रही थी ।

उन्होंने उसकी तलाशी ली । कुछ न पाया । सिवाय दो-चार छेनियों के ।

छेनियाँ उठाकर उन्होंने पानी में फेंक दीं और अग्निवर्मा की पीठ पर जोर से मारते गए । लहू बहने लगा । बुढ़िया को भी झकझोरा, और उन्हें डाँट-डपटकर आगे चलते गए ।

वे स्कन्दगुप्त के सिपाही थे । उस प्रांत में गश्त लगा रहे थे । कराहते-कराहते अग्निवर्मा और बुढ़िया वहीं पड़े रहे ।

१७

अग्निवर्मा और बुढ़िया ने रात वहीं नाले के किनारे काटी। चोट ज़रा अधिक लगी थी। अग्निवर्मा दर्द से कराहता रहा। फिर आँख लग गई। बुढ़िया ने उसकी सेवा शुश्रूषा में रतजगा किया।

सवेरे जब वह उठा तो सूर्य काफी ऊपर आ चुका था और बुढ़िया उसके पास बैठी थी।

"दर्द तो कम है न ?" बुढ़िया ने पूछा।

"कम हो या अधिक अब आगे जाना ही होगा। यहाँ कुछ न मिलेगा, और सिपाहियों से मुकाबला हो गया तो..."

वे दोनों रुक-रुक कर लँगड़ाते चलते जाते थे। धूप बढ़ती जाती थी। पेट भी खाली था। रास्ता मुश्किल से तय हो रहा था। थकान मिटाने के लिए बातें भी कर न पाते थे। कभी-कभी बुढ़िया आह भर-कर रह जाती। अग्निवर्मा को इस बात का आश्चर्य हो रहा था कि वह बेहोश क्यों नहीं हो गया था ?

धीमे-धीमे वे सब गाँव के पास पहुँचे। गाँव में कुछ लोग थे। पर वे उस गाँव के नज़र न आते थे। कहीं-कहीं से आकर जमा हो गए थे। गाँव के बाहर रुद्रदमन के सिपाहियों के तम्बू भी गड़े थे। इधर-उधर घोड़े चर रहे थे। तम्बूओं में मस्त सिपाही गपशप कर रहे थे।

अग्निवर्मा तम्बुओं से बचकर न गया। जा भी न सकता था। कोई और रास्ता न था। उसमें ताकत भी न थी। पहिले भागकर बुरी

तरह भुगत चुका था। वह चुपचाप धर्मशाला की ओर चला। बुढ़िया उस इलाके से परिचित थी।

उस पड़ाव पर उनको पिछले दिन पहुँच जाना चाहिए था। कई लोग सवेरे उठकर अगले पड़ाव पर चले गए थे। कई को सुनते हैं कि सिपाहियों ने खेती-बाड़ी करने के लिए घर भगा दिया था।

अग्निवर्मा को वहाँ कोई परिचित व्यक्ति न दीख पड़ा। उसे भय होने लगा कि वृद्ध कहीं आगे न चले गए हों। वे कहाँ जा रहे होंगे? क्या वे जीवित हैं? इस फिक्र में वह एक खम्भे के सहारे पैर पसारकर बैठ गया। बुढ़िया भी उसी के पास थी।

धर्मशाला में बुढ़िया के कई जान-पहचान वाले थे। कई सम्भवतः उसके गाँव के थे। कई ऐसे थे जिसके साथ उसने दो दिन पहले चलना शुरू किया था, वे उसे पीछे अकेला छोड़ गए थे। उन्हें देखते ही बुढ़िया कुछ खिसी तो···फिर मुस्कराने लगी। अग्निवर्मा का कंधा दबाने लगी। अग्निवर्मा उसको देखकर सिर खुजाता-खुजाता मुस्करा बैठा।

बुढ़िया ने वृद्ध के बारे में बहुत पूछ-ताछ की। उनका हुलिया बताया। अग्निवर्मा से उनके बारे में उसको जानकारी मिल गई थी। किसी ने कुछ कहा तो किसी ने कुछ, पर कुछ भी निश्चित रूप से न जाना जा सका।

बुढ़िया ने अग्निवर्मा की मरहम-पट्टी करवाई। वह समर्थ जान पड़ती थी। गाँव में जाने कैसे हकीम का पता लगा लिया था। घूम-फिरकर बुढ़िया ने यह भी मालूम कर लिया था कि वहाँ सैनिक उत्पात नहीं मचा रहे थे। उनके अधिकारियों की उन पर कड़ी निगरानी थी।

अग्निवर्मा धर्मशाला में सो गया। बहुत दिनों की थकान थी। जब वह उठा तो धर्मशाला खाली लगती थी, कोई जत्था आगे बढ़ गया था और कोई नया झुण्डा न आया था। धर्मशाला गाँव से कुछ हटकर थी, पास बगीचा था, और बगीचे के बाद सिपाहियों के तम्बू।

चाँदनी रात थी। वह खम्भे के सहारे बाहर बगीचे की ओर

देखने लगा। सैनिक मनोरंजन कर रहे थे। कुछ एक पेड़ के नीचे बैठे थे और दो-चार स्त्रियाँ ढोल की आवाज़ के साथ नाच रही थी। तीन-चार स्त्रियाँ और थीं वे सैनिकों के साथ बातचीत कर रही थीं।

"चाहो तो बाहर चबूतरे पर बैठ जाओ। अच्छी तरह दिखाई देगा। यहाँ सैनिक हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते···जवान हो··· देखो।" बुढ़िया ने कहा।

अग्निवर्मा चौंक गया। मगर फिर गौर से उस तरफ देखने लगा। उसको कोई पुष्पवल्ली जैसी स्त्री दिखाई दी। वह और ध्यान से देखने लगा—वही चाल-ढाल, कपड़े, लत्ते। अग्निवर्मा देखता गया, वह किसी सैनिक से बड़े हँस-हँसकर बात कर रही थी। अग्निवर्मा को अचरज हुआ।

उसने धर्मशाला में इधर-उधर देखा कि कहीं उसकी माँ वहाँ न हो। पर वहाँ वह न दिखाई दी। वह चबूतरे से उतरकर बगीचे के पास जा खड़ा हुआ। नज़दीक से उस स्त्री को देखने लगा। उसको विश्वास हो गया कि वह वही थी।

पुष्पवल्ली ने भी उसको देखा-पहचाना। सैनिक को साथ लेकर वह उसके पास आई। सैनिक उत्सुकतावश हँस रहा था। पुष्पवल्ली उसके गले में हाथ डालकर हँस रही थी—सैनिक शायद नशे में था।

अग्निवर्मा पुष्पवल्ली की नीयत के बारे में पहले ही जानता था। पर इस तरह सैनिकों से खेलता देख वह कुछ झुँझला उठा। उसे उसकी वृत्ति का भी ख्याल न रहा। उससे जानकारी मिल सकती थी। इसलिए वह वहाँ से हिला नहीं।

"अरे तुम यहाँ? जिन्दे हो?" पुष्पवल्ली ने पूछा।

"देख ही रही हो? तुम्हें मालूम है वृद्ध कहाँ है?"

"हमारे साथ चले थे पर···"

"पर···क्या?"

"पर रास्ते में मार दिए गए!"

"मार दिए गए ?"

"हाँ।"

"सचमुच।"

"हाँ, हाँ, सचमुच।"

"और धनंजय।"

उसका काम तमाम गाँव में ही हो गया था। मन्दिर के भारी-भारी पत्थरों के नीचे वह दब-दबाकर मर गया···किए का भुगत रहा था। सच, तुम में शक्ति है। ऐसी शक्ति जो शाप दे सकती है।

"चलो चलें···" सिपाही ने हाथ पकड़कर उसको बगीचे के अन्दर खींचा।

"अभी रहोगे न ?"

"नहीं···नहीं···हाँ···हाँ···" अग्निवर्मा हकला रहा था और सैनिक पुष्पवल्ली को खींचकर ले जा रहा था।

वह खिन्न हो धर्मशाला से वापिस आ गया। बगीचे में ढोल-ढमाका ज़ोरों पर था। बढ़-बढ़कर नाच हो रहा था। अग्निवर्मा की आँखें खुली थीं पर वह कुछ देखता-सा न लगता था। कान खुले थे पर वह कुछ सुन न रहा था। वह और किसी दुनिया में था।

१८

ब्राह्म मुहूर्त में ही अग्निवर्मा धर्मशाला छोड़कर निकल गया। बुढ़िया भी उसके साथ थी। अग्निवर्मा उसके साथ का आदी-सा हो गया था। वह धीमी चलती थी, नहीं तो अग्निवर्मा को उससे कोई शिकायत न थी।

शायद पुष्पवल्ली की भेंट न होती तो वह उस गाँव में रहता, आराम करता। वृद्ध के बारे में निश्चित रूप से मालूम हो गया था। उनकी खोज की भी आवश्यकता न थी।

वृद्ध की मृत्यु के कारण अग्निवर्मा बहुत दुखी था। वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिनकी प्रेरणा और उद्‌बोधन से उसमें सुप्त प्रतिभा पूर्ण रूप से जागृत हुई थी। वे धार्मिक थे। पर उनमें जाँत-पाँत के बारे में वह कट्टरता न थी, जो वह औरों में देखता आया था। उनके स्वभाव में एक आत्मीयता थी। बहिष्कार करने की प्रवृत्ति न थी। अग्निवर्मा इसीलिए उनसे इतना प्रभावित था।

रास्ता और खराब हो गया था। अँधेरा था। फिर भी काफ़ी लोग आते-जाते दिखाई दिए। गरमी का मौसम था। लोग सवेरे-सवेरे निकल जाते और सूरज के चढ़ते-चढ़ते गम्य स्थान पर पहुँच जाते। धूप और लू से बचते।

सड़क वहाँ से एक चक्कर-सी काटती थी और पहाड़ों में से साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चलती जाती थी। सर्वत्र शान्ति थी। गाँव के बाहर बगीचे से छोटा-मोटा जंगल शुरू हो जाता था। वहाँ गायें चर

रही थीं। उनके गले की घंटियों की इस तरह आवाज़ आती जैसे किसी मन्दिर में आरती हो रही हो।

अग्निवर्मा चलता जाता था। कन्धे में दर्द थी। पट्टी बँधी थी। पर वह निश्चिन्त था। बुढ़िया भी चुपचाप चली जाती थी। मानो उसे जाना पसन्द न हो। किन्तु जाए बगैर रह भी न पाती हो।

बगीचे के पास से होकर वे जंगल में गए, बगल की पहाड़ी में से यकायक कोई स्त्री आई और उसके साथ चलने लगी। उसका मुंह ढँका हुआ था। उन दिनों कितने ही व्यक्ति न जाने कहाँ लुके-छुपे जा रहे थे। साधारणत: कोई किसी के बारे में उत्सुकता न दिखाता।

वे चलते जाते थे। पूर्व में सूर्य की बालरश्मियाँ निकल रही थीं। अन्धकार हट रहा था। लगता था कोई परदा हट रहा हो। गाँव से काफ़ी दूर आ गए थे। अग्निवर्मा ने आगुन्तक को गौर से देखा। वह पुष्पवल्ली थी। वह यकायक रुक गया। और पास वाले पत्थर पर बैठ गया। जैसे आगे न जाने का निश्चय कर लिया हो। वे दोनों उसकी ओर अचरज से देखने लगे। अग्निवर्मा यह भी न समझ पाया कि अगर उसने उससे बातचीत न की थी तो उस बुढ़िया ने स्त्री स्वभाववश क्यों नहीं बात छेड़ी थी।

"तुम वापिस जाओ···शर्म नहीं आती साथ आते हुए···"अग्निवर्मा ने कड़ी आवाज़ में कहा।

"शर्म आती तो साथ ही क्यों आती?" पुष्पवल्ली ने हँसते हुए कहा।

"तुम लोगों का क्या भरोसा···? आज हम से खिल-खिलकर बातें करोगी कल किसी और से, और परसों किसी सैनिक को अपने आपको सौंप दोगी।"

"तो क्या तुम मुझे मरने के लिए कहते हो? गाँव उजड़ गया। माँ मर गयी। वनंजय मर गया, तुम्हारा सहारा भी जाता रहा······ मैं करूँ तो क्या करूँ? जवान औरत को जिन्दा रहना मुश्किल है।

लाचारी है। अब भी तो तुम बड़े नादान हो, कुछ सोचो, समझो।"

"क्या सोचो समझो?"

"तुम्हें मेरा सैनिकों के पास रहना पसन्द नहीं है, मैं उनके पास से भागकर आई हूँ, क्या तुम मुझे उनके पास फिर भिजवाओगे?"

"मुझे तुम्हारा मेरे पास आना भी पसन्द नहीं है।"

"पसन्द नहीं है?"

अग्निवर्मा कुछ न बोला। उसे भय था कि पुष्पवल्ली जाने क्या कर बैठे।

"पर मुझे पसन्द है।" उसने सीना तानकर कहा। मैं चाहे एक समय में कितनों से ही घनिष्टता दिखाऊँ। वह सब अभिनय है, पर मैं चाहती तुम्हें ही हूँ।"

"हो सकता है यह भी अभिनय हो।"

"काश कि तुम मुझे समझ पाते।"

"जाओ, तुम। तुम्हारा पीछा करते-करते वे सैनिक आएँगे, और हमें भी सताएँगे। काफ़ी भुगत लिया है। जाओ।"

"अपने को मर्द कहते हो। एक आफत में पड़ी हुई औरत की मदद नहीं कर सकते? सैनिकों से घबराते हो? उन्हें मैं देख लूँगी।"

"फिर तुम मेरे साथ क्यों आती हो?"

"क्योंकि आना चाहती हूँ"

"आना चाहती हूँ···जाने इसमें भी क्या चाल है?"

"कुछ भी नहीं, उस दिन मुझे याद न था कि तुम्हें धोखा देने के लिए धनंजय मुझे साथ ले गया था। विश्वास करो।"

"हूँ!······" अग्निवर्मा अचरज से देखने लगा।

"मैं अकेली नहीं रह सकती तो तुम भी अकेले नहीं रह सकते। तड़पोगे···रोओगे···मैं तुम्हें खूब जानती हूँ।"

"जानती हो······तो जाओ।"

"जाऊँ क्या? मैं तुम्हारे पत्थरों के पास रोती तो शायद वे भी

पिघल जाते। तुम्हें भगवान् ने दिल दिया है और तुम दिल को बनाना जानते हो। पछताओगे।" पुष्पवल्ली रोने लगी। वह भी वहीं बैठ गई।

अग्निवर्मा उठकर चल दिया। पुष्पवल्ली झट साथ उठकर चलने लगी। बुढ़िया यह सब आश्चर्य से देख रही थी।

"तुम जाओ, वापिस जाओ।"

"मैं नहीं जाऊँगी, सड़क तुम्हारी नहीं है। तुम्हारी है तो मेरी भी है।" वह कदम पटक-पटककर चलने लगी। चेहरे पर जो अभी आँसुओं से तर था मुस्कराहट बन गई। बुढ़िया को यह धूप-पानी का खेल शायद समझ में नहीं आ रहा था।

"पर..." अग्निवर्मा सोचने लगा।

"पर क्या? आने दो बेटा। मैं जान गई हूँ। कोई बात नहीं है। इस जैसी स्त्रियाँ अपनी-परायी नहीं होतीं। हमेशा शुद्ध। वह बिचारी कहाँ जाएगी?" बुढ़िया ने कहा। वह पुष्पवल्ली को देखकर मुस्कुराने लगी। और कभी बुढ़िया यह बात कहती तो पुष्पवल्ली शायद कुछ जवाब देती। पर तब चुप रही। अग्निवर्मा से भी कोई जवाब देते न बना। तीनों चलते गये।

जब बुढ़िया थक-थकाकर बैठ जाती तो पुष्पवल्ली रूठ जाती। वह आगे बढ़ जाने की फिक्र में थी। निर्भयता का दिखावा था। मन ही मन वह भी सैनिकों से डर रही थी। पर कुछ कह न पाती थी। क्योंकि बुढ़िया के साथ अग्निवर्मा भी बैठ जाता था।

"बैठ-बैठकर चलने में थकान और भी बढ़ जाती है।" पुष्पवल्ली ने कहा।

"हाँ, हाँ, उनके लिए जो चल पाते हैं; जो चल नहीं पाते, वे इसी तरह बैठ-बैठकर ही रास्ता तय करते हैं जब मैं तुम्हारी उम्र की थी तो मेरे पैर भी न रुकते थे। बुढ़ापे में—खैर, बुढ़ापा तो क्या करेगा—कमजोरी है। कई दिनों से पेट भर खाया भी नहीं है।" बुढ़िया हाँफती-हाँफती कह रही थी। पुष्पवल्ली भी बैठ गई।

और बुढ़िया कहती जाती थी, "तुम जाओ, बच्चो, मेरे लिए क्यों व्यर्थ अपनी जान आफत में डालते हो? जाओ बेटा। "अग्निवर्मा चुप रहा, पर पुष्पवल्ली ने पूछा—

"क्या तुमने बहुत दिनों से ठीक खाना नहीं खाया है?"

"नहीं तो। बुढ़िया ने कहा, "यह बिचारा न किसी से माँग ही पाता है, न कमा ही पाता है। अच्छा, उठो, चलो, चलें। मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगी। जाने इस बिचारे का क्या हो? मैं ब्राह्मणी हूँ, कम से कम माँग तो सकती हूँ। हमें माँगने का अधिकार है।"

"तुम ब्राह्मणी हो ?" अग्निवर्मा ने अचरज से पूछा। वह उससे दो-चार कदम आगे बढ़ गया।

"हाँ, हाँ, तुम्हें क्यों आश्चर्य हो रहा है ? सातवाहनों के ज़माने में स्त्री की ही जात पूछी जाती थी, अब भी यही होता है।" बुढ़िया ने कहा।

"अक्लमन्दी भी तो इसी में है। सन्तान की जात स्त्री की जात ही होनी चाहिए। बात साफ़ है, पिता के बारे में..."

पुष्पवल्ली कह ही रही थी कि बुढ़िया बोल उठी, "बेटी, इतनी बेशर्मी अच्छी नहीं होती।"

अग्निवर्मा को तब भी ताज्जुब हो रहा था कि वह बुढ़िया ब्राह्मण क्यों थी। वह मन ही मन सोच रहा था—"क्या बुढ़िया सचमुच ब्राह्मण है ?"

"तुम ब्राह्मणी हो ?" वह अपनी उत्सुकता और सन्देह को काबू में न रख सका।

"हाँ, हाँ, बेटा, विश्वास नहीं होता। अच्छे कुल की ब्राह्मणी हूँ। जाने दो, वह तो पुरानी बात है। याद करने से क्या लाभ ? आजकल मेरी हालत लुढ़कते पत्थर से भी बदतर है।"

"फिर भी..." अग्निवर्मा ने जानना चाहा। उत्सुकता बढ़ती जाती थी। बातों-बातों में रास्ता तय होता जाता था। "सुनाओ, माँ...।" उसके मुख से अनायास 'माँ' शब्द निकला।

बुढ़िया की छाती फूल उठी। "बेटा, ज़माना हुआ यह शब्द सुने। कभी मेरे बच्चे थे। पति थे, घरबार था, ज़मीन-जायदाद थी, सब कुछ था। अब कुछ नहीं है, भगवान् की माया है।" बुढ़िया कहती जा रही थी।

"आखिर बात क्या है माँ ?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"तो सुनो, चाहे कुछ भी करो बेटा, पर विश्वासघात न करो। सब पापों का प्रायश्चित् है पर इसका कोई नहीं। वे सातवाहन के

दरबार में थे। अच्छा ओहदा था। राजा उनसे विचार-विनिमय किया करते थे तब सातवाहनों की राजधानी प्रतिष्ठान में थी। हमारे दिन वैभव और ऐश्वर्य में कट रहे थे। उन दिनों उत्तर की तरफ कुछ विरोधी लोग सातवाहन के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे थे। रुद्रदमन भी उनके साथ था।

अग्निवर्मा नीचे मुंह किए, बड़े ध्यान से बुढ़िया की बात सुनता जाता था। बुढ़िया की आवाज़ में असाधारण कँपकँपी थी, गम्भीरता थी।

"दरबारी बात थी। राजाओं का हृदय तो तुम जानते ही हो,··· जल्दी सन्तुष्ट हो जाते हैं, जल्दी क्रुद्ध भी। राजा किसी और दरबारी पर खुश हो गए। इनकी और उस दरबारी की होड़ थी। यह इनको न जँचा। राजा ने उसको इनसे बड़ा ओहदा भी दे दिया। ये और चिढ़े। मैंने बहुत समझाया कि जितना भगवान् ने दे रखा है, वह ही काफ़ी है। पर वे न माने। ज़िद पर अड़े रहे। दरबारी का बुरा करने के लिए राजा की ही हानि करने लगे। वे विरोधियों के पास दरबार के भेद भेजने लगे। विरोधियों की शक्ति बढ़ती गई। उनकी शक्ति इतनी बढ़ी कि सातवाहन राजा उनका मुकाबला न कर सके। वे प्रतिष्ठान छोड़कर पूर्व की ओर गए। इसी रास्ते गए होंगे। खैर···।"

"तो आगे······?"

"थोड़े दिनों बाद रुद्रदमन प्रतिष्ठान में आया। पर वह वहाँ अधिक दिन न रहा, वह युद्ध करता जाता था। इन्होंने सोचा था कि इन्हें कोई इनाम मिलेगा, पर रुद्रदमन ने इनको प्राण-दण्ड दे दिया। उसका ख्याल था कि अगर एक व्यक्ति किसी राजा का नमक खाकर उसको धोखा दे सकता है तो वह दूसरे के साथ भी वही सलूक कर सकता है। हमारी ज़मीन-जायदाद छीन ली गई। हम कंगाल हो गए। बच्चे रह गए थे, मैं उन्हीं के सहारे जीती रही। फिर वे भी मार दिए गए। जाने अब मैं क्यों ज़िन्दा हूँ? भुगत रही हूँ।" कहती-कहती बुढ़िया रोने लगी। वह फिर बैठ गई। अग्निवर्मा और पुष्पवल्ली भी

बैठ गये। तीनों चुप थे। अग्निवर्मा बुढ़िया को आश्वासन भी न दे पाता था।

गाँव से ज्यों-ज्यों दूर वे चलते जाते थे त्यों-त्यों रास्ता भी निर्जन होता जाता था। सैनिकों के भय के कारण शायद प्रजा सफ़र करने से हिचकती थी।

"यहाँ बैठने से क्या फायदा ? बहुत दूर जाना है। अब सातवाहनों के वे राजा नहीं हैं। जो भी हों, उनसे मैं क्षमा माँगना चाहती हूँ, फिर भगवान् से प्रार्थना करूँगी कि वह मुझे इस संसार से ले जाए, उठो बेटा।" बुढ़िया उठकर चल दी। अग्निवर्मा अपने ही विचारों में उलझा हुआ था।

"उठो बेटा, अब गाँव नज़दीक आ गया है। इस पहाड़ी के बाद घाटी है, और घाटी में एक ब्राह्मणों का गाँव। वहाँ आराम करेंगे। धूप भी बढ़ रही है।" बुढ़िया ने कहा।

"भूख भी तो लग रही है।" पुष्पवल्ली ने कहा।

"यह तो माँगेगा नहीं, न बिचारा माँग ही पाएगा, आओ, मैं ही खिलाऊँगी। अब तुम्हें खिलाना मेरी जिम्मेवारी रही।" बुढ़िया कह रही थी और पुष्पवल्ली उसकी ओर घूर रही थी।

"मेरे पास थोड़ा धन है।" पुष्पवल्ली ने कहा।

बुढ़िया की ममता देखकर अग्निवर्मा की आँखें सहसा छलछला आईं। उसे जीवन में कभी स्नेह न मिला था, अगर मिला भी था तो मृग-मरीचिका की तरह था वह स्नेह, वह मातृ-वात्सल्य वंचित था।

"अरे, रोते हो ? तुम भी नादान हो बेटा। सब भगवान् की महिमा है। जो मुझ पर गुजरी थी सो किसी पर भी गुज़र सकती थी, पर भगवान् करे कि किसी पर ऐसी न गुज़रे।" बुढ़िया कह रही थी। वह यह न जानती थी कि अग्निवर्मा क्यों रो रहा था। वह उसकी सहृदयता के कारण गद्गद् हो रही थी। उसके आँसू टपक गए। पर उसने उन्हें पोंछने का प्रयत्न न किया।

२०

छोटी-सी नदी थी। नदी के किनारे गाँव बसा था। गाँव से परे पहाड़ था, नदी के इस पार भी एक पर्वत-शृंखला थी। पहाड़ पर एक टूटा-फूटा दुर्ग था। नदी पर पुल था, पर उसका उपयोग न होता था। गाँव बहुत बड़ा था। लेकिन जनसंख्या कम थी। कोई विशेष रौनक भी न थी। गाँव-उजड़ा-सा मालूम होता था।

इस गाँव में भी एक विशाल धर्मशाला थी। किन्तु खाली पड़ी थी। दो-चार कमरों में पशु बँधे हुए थे। चारदीवारी गिर चुकी थी। पाँच-दस पेड़ थे···शुष्क, नीरस, चीलों के आसन बने हुए। फर्श टूट चुका था। दीवारें एक तरफ झुकी हुई थीं। उजाड़ गाँव की वह उजाड़ धर्मशाला थी।

बुढ़िया इस गाँव से परिचित थी। उसका कहना था कि सातवाहन के ज़माने में यह एक सम्पन्न जनपद था। बहुत कारोबार होता था। सेना भी रहती थी। सातवाहनों के बुरे दिन आए, यह गाँव भी उसके दुर्भाग्य का शिकार हुआ। लोग या तो नासिक भाग गये, नहीं तो सुदूर उत्तर में, उज्जयिनी में बस गए।

अग्निवर्मा और पुष्पवल्ली को धर्मशाला में छोड़, लाठी टेकती-टेकती बुढ़िया गाँव में भिक्षा माँगने चली गई। अग्निवर्मा को यह पसन्द न था। बुढ़िया मुश्किल से रास्ता तय कर पाती थी, और उसका यह और घूमना-फिरना उसे गवारा न था। बुढ़िया को कोई भी दो जून

खाना दे देता, वह उन्हीं के लिए "भिक्षां देहि, भिक्षां देहि" चिल्ला रही थी।

पुष्पवल्ली और अग्निवर्मा एकान्त में थे। यौवन-सुलभ चंचलतावश कभी-कभी सब भूल-भालकर अग्निवर्मा पुष्पवल्ली से बोलने की कोशिश करता पर बोल न पाता। पुष्पवल्ली भी उसको हर तरह बुलवाने की कोशिश कर रही थी।

अब तुम्हारे साथ आ ही गई हूँ, बोलते क्यों नहीं?" पुष्पवल्ली ने पूछा।

अग्निवर्मा सड़क की तरफ देखता चुप रहा।

"जाने को कहोगे तो भी नहीं जाऊँगी।"

"तुम्हारा क्या ठिकाना? आज मेरे साथ कल किसी और के साथ।"

"कई के साथ रही हूँ, ऊब गई हूँ, इसलिए अब एक के साथ रहूँगी।"

"क्या भरोसा?"

"भरोसा क्या, अग्नि-परीक्षा तो मैं दे नहीं सकती। किन्तु कभी तुमने यह भी सोचा कि एक स्त्री तभी तक पाप करती है जब तक उसको मनचाहा पुरुष नहीं मिलता है—मैं अपनी जैसी स्त्रियों के बारे में कह रही हूँ। अगर तुमने मुझे न अपनाया और मैं और बिगड़ गई, तो तुम जिम्मेवार होगे। क्या यह तुम्हें पसन्द है?"

अग्निवर्मा कुछ सोचता चुप रहा।

"अब यहाँ हमारा गाँव नहीं, बड़े-बुजुर्गों की देख-रेख नहीं, समाज की मान-मर्यादायें नहीं, कम से कम यहाँ तो दिल देकर बात कर सकते हो। मैंने यह निश्चय कर लिया है।"

"तुम्हारा निश्चय भी क्या है, हर हवा के रुख के साथ बदलता है। बहता काठ बहना जानता है, रास्ता बनाना नहीं।

"पर मैं बहता काठ कहाँ हूँ।" पुष्पवल्ली हँसने लगी। उसने

अग्निवर्मा को गले लगा लिया। उसके गाल थपथपाए। अग्निवर्मा गाल पोंछने लगा। पुष्पवल्ली खड़ी-खड़ी ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी।

अग्निवर्मा ज़रा पिघला। चेहरे पर मुस्कराहट आई। वह अकेला था। जितेन्द्रिय भी न था। उसने वही किया जो भग्न हृदय युवक निराश हो औचित्य और अनौचित्य का बिना ख्याल किए वेश्या के घर कर आते हैं।

अग्निवर्मा लेटा-लेटा सोने लगा। और पुष्पवल्ली, उसका फटा कुरता थैले में से निकालकर सीने लगी। सी-सा कर नदी में उसने स्नान किया। अपने कपड़े धोए, अग्निवर्मा के कपड़े धोए। वह यकायक गृहिणी-सी बन गई।

जब बुढ़िया वापिस आई तो अग्निवर्मा नाक बजा रहा था। भूखा था। तिस पर थकान, और······। बुढ़िया ने प्रेम से उठाया। उसे वह खिलाने-पिलाने लगी।

"तुम इस तरह गली-गली घूमती-फिरती रहीं तो रुद्रदमन के कर्मचारी तुझे पहिचान लेंगे और जाने क्या-क्या······" अग्निवर्मा कहता-कहता रुक गया।

"मुझे इस वेश में भगवान् भी नहीं पहिचानते हैं, ये लोग क्या पहिचानेंगे ?" बुढ़िया ने कहा।

"अगर वे जान गए कि तुम धन्यकटक जा रही हो तब ?"

"पहिचानेंगे तब न ? धन्यकटक जाना भी कोई अपराध है ?"

"फिर भी, युद्ध चल रहा है। प्रतिबन्ध तो होंगे ही। हम अब भी रुद्रदमन के प्रान्त में हैं। माँ, यहा से धन्यकटक कितनी दूर है ?"

"मैं तो कभी गई नहीं। कम से कम एक-डेढ़ महीने का रास्ता है, कठिन है। पर चलते-चलते कठिन रास्ते भी कट जाते हैं, हाँ बेटी, आओ, तुम भी खाओ।" अग्निवर्मा को खिलाते-खिलाते उसने पुष्पवल्ली को बुलाया।

"इन्हें खाने दो, हम दोनों बाद में खायेंगे।" पुष्पवल्ली ने कहा।

वह बुढ़िया के पीछे खड़ी हो तिरछी नजर कर मुस्कराने लगी।

"युद्ध का मामला है, धन्यकटक में भी तहलका मचा हुआ होगा, वहाँ हम कुछ कर पायेंगे, मालूम नहीं यह युद्ध कब खतम हो।"

"पर और कहीं भी क्या कर सकते हैं ?"

"मैं नौजवान हूँ तुम को भीख माँगता-माँगता घूमते-फिरते मैं नहीं देख सकता। कारीगर हूँ, कहीं काम मिलेगा ही।"

"इस उजाड़ गाँव में ?" बुढ़िया ने पूछा। "यहाँ काम करने वालों लिए ही काम नहीं है।

"पर तुम मेरे और इसके लिए दर-दर नहीं भटक सकतीं।"

"हम तो हवा के रुख के साथ बदलते हैं, तुम तो पत्थर हो। बदलते ही नहीं, धन्यकटक के लिए निकले थे, अब कुछ और सूझ रही है, जाने कल क्या सूझे ?" पुष्पवल्ली अट्टहास करने लगी।

"मैं सोच ही तो रहा हूँ, अभी निश्चय थोड़े ही बदला है।" अग्निवर्मा ने बड़ी गम्भीरता से कहा।

"मैं बूढ़ी हो गई हूँ, एक ही इच्छा है, युद्ध हो, या ओले बरसें, या आँधी चले, मैं चलती जाऊँगी। युद्ध की समाप्ति की प्रतीक्षा करती रही तो यह जीवन भी समाप्त हो जाएगा।"

"ऐसी बात न करो। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।" अग्निवर्मा ने ढाढ़स बँधाया। और इस बीच बुढ़िया की हिचकियाँ बँध गई थीं। पुष्पवल्ली मुश्किल से हँसी रोक पा रही थी।

२१

रास्ता नदी के किनारे था। धूप के होते हुए भी हवा नदी के पानी में डूबकर ठण्डी बयार हो रही थी। रास्ते के आस-पास पेड़ भी थे। बुढ़िया में नया जोश था। वह उदासी, जो अग्निवर्मा ने पहिले उस में देखी थी, बहुत कम हो गई थी। वह शायद इसलिए खुश थी कि उसे भी विपत्ति में सहारा मिल गया था। अग्निवर्मा भी उतना चिन्तित न था, वह पुष्पवल्ली से खेल-खिलवाड़ कर रहा था।

काफ़ी रास्ता तय हो गया पर बुढ़िया सुस्ताई नहीं। कभी कुछ सुनाती, तो कभी कुछ। पर न अग्निवर्मा ही सुनता लगता था न पुष्पवल्ली ही। वे आँखों से बोलते लगते थे, कभी मुस्कराते-मुस्कराते पास आते, कभी एक-दूसरे को धकेलते रास्ते के छोर तक चले जाते। अग्निवर्मा किसी और दुनिया में था। उसे वृद्ध का भी शोक न था। अगर कन्धा दुखता न होता तो वह उछलता-कूदता चलता।

अब अग्निवर्मा धन्यकटक जाने की जल्दी में न था। वह उस गाँव में ही कुछ दिन काट लेना चाहता था। पुष्पवल्ली की भी यही इच्छा थी। पर बुढ़िया को निराश करना अग्निवर्मा ने अच्छा न समझा। उसने यह जरूर निश्चय कर लिया कि बुढ़िया को वह भीख न माँगने देगा। पुष्पवल्ली का पैसा खर्चने में उसे कोई ऐतराज न था।

दोपहर हो रही थी। वे सब सुस्ताकर धीमे-धीमे पैर घसीटते चल रहे थे। आस-पास कोई पड़ाव न था। खाने-पीने को भी कुछ न था। सिवाय कल-कल करती नदी के पानी के।

झाड़ियों के पीछे उन्हें कोई आहट सुनाई दी। तुरन्त अग्निवर्मा पुष्पवल्ली को लेकर, पेड़ की आड़ में सजग खड़ा हो गया। उसे सैनिकों के होने की आशंका थी। इतने में आवाज आई—चल वे चल। थोड़ी देर बाद एक गधा पत्थर लादे रास्ते पर आया। उसके बाद एक-दो गधे और आए। फिर दो-तीन आदमी। अग्निवर्मा की जान में जान आई। पुष्पवल्ली भी खिलखिलाकर हँसी।

उनको हँसता देख वे लोग आपस में एक दूसरे की ओर देखने लगे, जैसा उनके हँसने का कारण जानना चाहते हों।

"यानी पड़ाव पास है," बुढ़िया ने लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा।
"कहाँ जा रहे हो तुम?" बुढ़िया ने उनसे साहस करके पूछा।

"अपने गाँव।" उन्होंने कहा।

"कितनी दूर है वह? रास्ते पर है क्या?"

पास ही है। पर रास्ते से हटकर है।"

"वहाँ खाने-पीने की चीजें मिल जाएँगी? ब्राह्मणों की बस्ती है?

"हाँ, हाँ, सब है।" गधों की पूंछ मरोड़ते हुए उसने कहा।

"रास्ता कहाँ फटता है? हम परदेशी हैं।" बुढ़िया ने कहा।

"हमारे पीछे-पीछे चले आओ।"

"ये पत्थर कहाँ ले जा रहे हो?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"गाँव को, हमारे यहाँ एक मन्दिर बन रहा है।..." वह कह रहा था। और अग्निवर्मा, पुष्पवल्ली और बुढ़िया एक-दूसरे को उत्सुक नयनों से देख रहे थे।

"अरे भाई, और जगह तो बने-बनाए मन्दिर तोड़े जा रहे हैं, और तुम मन्दिर बनवा रहे हो। क्या जानते नहीं युद्ध चल रहा है?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"हाँ, हाँ, जानते हैं, पर राजा रुद्रदमन हमारा कुछ न करेंगे। हमारा गाँव उनका सेवक है। वे स्वयं रुपया दे रहे हैं।" उन लोगों ने कहा।

"तो इसका मतलब यह हुआ कि रुद्रदमन हिन्दुओं के विरुद्ध नहीं है। उसने सम्भवतः सारे गाँव को उजाड़ देने के लिए कहा होगा और सैनिकों ने उस मन्दिर का भी नामोनिशान तक न छोड़ा। ग्रामिक भी तो रुद्रदमन के विरुद्ध थे, और उनके कारण आस-पास का सारा इलाका राजा के विरुद्ध उबल रहा था। ग्रामिकों के साथ उसने ग्रामों का भी सत्यानाश कर दिया। समझी?" उसने पुष्पवल्ली से पूछा।

"बात तो साफ है, फिर तुम्हें इस पर सन्देह कैसे हुआ? ज़रा मोटी..." पुष्पवल्ली कह भी न पाई थी कि अग्निवर्मा ने उसे आँखें दिखाईं।

तब तक गधे और आदमी रास्ता छोड़ दूसरे रास्ते पर जा रहे थे। दूर टीले पर, पाँच-छः झोंपड़ियाँ, बस्ती, दिखाई दे रही थीं।

रास्ता ऊपर चलता जाता था। टीले के बगल में एक घाटी दीख पड़ती थी। भूमि का लाल-लाल रंग, कड़ी दुपहरी में, तपते लोहे की तरह था, पैर जल रहे थे। रास्ते पर रोड़े-पत्थर अधिक थे। गधे भी लड़खड़ा रहे थे।

गधे टीले के पास जाकर रुके। एक बड़ा अहाता दिखाई दिया। चारदीवारी बनी हुई थी। मन्दिर की दीवारें ऊपर उठ रहीं थीं। मन्दिर का आकार वही था जो प्रतिष्ठान में पहाड़ में बने मन्दिर का था। समीप झोंपड़े थे। अग्निवर्मा की उत्सुकता बढ़ी। पर भूख इतनी तेज लग रही थी कि वह उधर न जा सका। गधे भी इस बीच में पत्थर उतारकर घर की ओर भाग रहे थे।

"तो माँ, मुझे अब यहाँ काम मिल सकता है, मैं मन्दिर बनाना जानता हूँ...काम..." ओंठ समेटकर हाथ मलते हुए अग्निवर्मा ने खुशी-खुशी कहा। वह अपना थैला टटोलने लगा पर उसमें छेनियाँ न थीं। उसका मुँह सहसा खिन्न हो गया। "छेनियाँ भी मिल जाएँगी। कोई उधार दे ही देगा।" उसने पैर ठोककर कहा।

"पर तुम्हारा कन्धा?" पुष्पवल्ली ने काँपती हुई आवाज़ में पूछा।

"घाव तो भरने दो···खैर, पहिले पेट भर लो।" बुढ़िया ने कहा।

वह इस गाँव से परिचित न थी, शायद वहाँ कोई धर्मशाला भी न थी। वे एक टूटे देवालय के आँगन में, पेड़ के नीचे, आराम करने लगे।

२२

सवेरे-सवेरे अग्निवर्मा उठकर उस टीले पर गया। उसकी प्रदक्षिणा की। अहाते का भी चारों ओर से निरीक्षण किया।

अभी सूर्य ठीक तरह से न निकला था। मन्दिर के प्रांगण में जाना ठीक न था। रास्ता भी बन्द था। अपरिचित स्थल था। कोई उसे जानता-पहिचानता न था। आसानी से चोरी का सन्देह हो सकता था।

अपनी उत्कण्ठा में अग्निवर्मा पत्थरों को परखता। चारदीवार को देखता। मन ही मन कुछ गुनगुनाता। उसकी अँगुलियाँ काम के लिए खुजला रही थीं।

वह नित्य कृत्य से निवृत्त होने के लिये नदी की ओर चला गया। नहा-धोकर नये उत्साह से वह मन्दिर के पास आया। तब तक मन्दिर की दिनचर्या शुरू हो गई थी।

वह झिझकता-झिझकता अन्दर गया। मन्दिर के सामने अभी कोई न था। पिछवाड़े में, घने छायादार पेड़ों की झुरमट में, एक झोंपड़ी थी। वह वहाँ गया। अग्निवर्मा को उसकी पीठ ही दिखाई दे रही थी।

उसने उसका अभिवादन किया, "नमस्ते।"

उस व्यक्ति ने पीठ फेरी। अग्निवर्मा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह कीर्तिवान था। वह भौंचक्का खड़ा रहा। वह तुरन्त समझ गया कि मन्दिर क्यों प्रतिष्ठान की नकल पर बन रहा था।

वह काम माँगने आया था, पर बिना काम की बात कहे वह वापिस जाने को तैयार हो गया। उसने कभी कल्पना भी न की थी कि इतने

बड़े काम का जिम्मेवार कीर्तिवान होगा। वह उसको कलाकार भी न समझता था। फिर उसके पास काम कैसे करता?

"अरे, अभी-अभी आये, और जाने भी लगे।" कीर्तिवान ने कहा, प्रतिष्ठान से आ रहे हो क्या?

"हाँ।"

"तुम्हारा मन्दिर क्या पूरा हो गया है?"

"हूँ।" अग्निवर्मा कुछ कह न पाया।

"यह मन्दिर तुमने देख लिया है न?'

"अभी तो बन रहा है, क्या तुम बनवा रहे हो?"

"हाँ, हाँ, ये गाँववाले मुझे ले आये थे। बड़ा सम्मान कर रहे हैं ये। राजा रुद्रदमन की भी यही इच्छा है।"

"तुम इन्हें जानते हो?"

"नहीं तो, गाँववालों ने बताया है।" दोनों थोड़ी देर चुप रहे। अग्निवर्मा जानता था कि कीर्तिवान तिकड़मबाज था। जो अपनी कुशलता से न कर पाता था आमद-खुशामद से करवा लेता था। नासिक में वह बड़ा चुगलखोर समझा जाता था। शायद वह सोचता था कि कलाकार भी उसी तरह लोग बन जाते हैं जिस तरह पुजारी-पुरोहित। भाग्य मगर उसका साथ देता लगता था। वह ही 'कार्य-कुशल' समझा जाता था।

"कहाँ चले हो?" कीर्तिवान ने पूछा।

"धन्यकटक।"

"राजा ने बुलाया है?" कीर्तिवान ने ताना कसा।

"नहीं।"

कीर्तिवान जोर से अट्टहास करने लगा। अट्टहास सुन मैत्रेयी घर के अन्दर से आई। उसने अग्निवर्मा को देखा। दोनों की चार आँखें हुईं। मैत्रेयी की आँखें छलछला आयीं। अग्निवर्मा के कन्धे पर अब भी पट्टी बंधी थी। वह उसी को लगातार देख रही थी। अग्निवर्मा

कभी उसकी तरफ देखता तो कभी कीर्तिवान की तरफ। वह तिलमिला रहा था।

"ठहरो, मैं अभी आई, प्रातः राश करते जाना।" मैत्रेयी घर के अन्दर गई।

पर अग्निवर्मा उसके लौटने की प्रतीक्षा न कर सका। वह जिस अवस्था में था उसमें शिष्टाचार का सम्मान भी न कर पाता था वह जिस स्त्री के लिए रोड़े-पत्थर मारकर भगाया गया था वह किसी और पुरुष के साथ भागकर आ गई थी। वह जिसको अपनी धर्मपत्नी बनाना चाहता था वह किसी और की 'पत्नी' बन गई थी।

जाने उसका हृदय भी क्या था, इन सब बातों के बावजूद वह अब भी उसके लिए तड़पता था। उसमें इतना साहस न था कि किसी की पत्नी को ले भागे। शायद चाहता भी न था। विधि ने उसको उससे अलग कर दिया था और अपने ढंग से वह खुश भी हो रहा था कि उससे फिर चार आँखें हो गईं।

वह अपने को खो-सा बैठा। इन विचारों की ज्वालायें उसे झुलसा रही थीं। वह उठकर चल दिया। मैत्रेयी को न मालूम क्या हुआ कि वह भी लज्जा छोड़कर उसके पीछे चलने लगी। उसको मनाने लगी। कीर्तिवान खड़ा-खड़ा चिल्ला रहा था। डाँट-डपट रहा था।

मन्दिर के प्राकार से बाहर अग्निवर्मा चला आया। मैत्रेयी उसका हाथ पकड़कर गिड़गिड़ा रही थी। और उसके पीछे कीर्तिवान तरह-तरह की गालिया भोंक रहा था "बेशर्म ! शर्म नहीं आती किसी पराये के साथ जाते हुए, वापिस आई तो देखना।" उसको चिल्लाते देख आस-पास के लोग इकट्ठे हो गए।

इतने में पुष्पवल्ली भी हड़बड़ाती हुई आई। उसकी आँखों में नींद थी। लगता था जैसे सोते-सोते उठकर आई हो। बगल में अग्निवर्मा को न पा वह ताड़ गई कि वह कहाँ गया था।

उसने कन्धे सहलाते हुए कहा, अभी घाव भरा नहीं है और तुम

श्राम करने निकले हो ? चलो, चलें।" पुष्पवल्ली उसको पत्नी की आत्मीयता के साथ ले जा रही थी।

मैत्रेयी ने उसको एक क्षण देखा और यकायक वह फूट पड़ी। अग्निवर्मा निष्प्राण-सा था। वह यन्त्रवत् पुष्पवल्ली के साथ चलता जाता था। मैत्रेयी आँखें पोंछती-पोंछती मन्दिर की ओर जा रही थी। दीवार के पास खड़ा कीर्तिवान गुस्से में जल-भुन रहा था। उसकी ओर अग्निवर्मा ने मुड़कर न देखा।

२३

पुष्पवल्ली साथ न होती तो अग्निवर्मा साहस करके मैत्रेयी को ले आता...वह कीर्तिवान से पुराना हिसाब पूरा कर लेता। अगर वह न होती तो शायद इसकी ज़रूरत भी न होती। मैत्रेयी स्वयं ही उसके साथ चली आती, भले ही सारा गाँव उसका रास्ता रोकता।

और अगर यह घटना पाँच-दस दिन पहिले गुज़रती तो हो सकता है कि वह इतनी माथा-पच्ची भी न करता। पिछले दिनों पुष्पवल्ली के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल गया था। वह भी बदल गई थी। वह अब चुलबुली वेश्या न थी...पत्नी होने के प्रयत्न में थी।

अग्निवर्मा इस सोच-विचार में बैठा था। पुष्पवल्ली उसके साथ थी। गाँव के बेकार लोगों ने उन्हें तमाशा बना रखा था। वे उसे दिक कर रहे थे। गाँव में यदि वह रहता तो मालूम नहीं क्या होता... मैत्रेयी दिखाई देती...फिर कुछ होता। काम भी न था। ठहरने की ठीक जगह न थी अतः वह आगे बढ़ जाना चाहता था।

बुढ़िया लाठी टेकती-टेकती कराहती-कराहती हाँफती आई। वह पिछले दिन जोश में काफ़ी चल बैठी थी। पैरों में छाले पड़ गए थे, सूज गए थे। नाख़ूनों से ख़ून बहने लगा था। पर ऐसी हालत में एक टूटी-फूटी थाली लेकर वह भोजन माँगने गाँव में निकल गई थी। यदि पुष्पवल्ली अग्निवर्मा की खोज में न जाती तो वह कुछ खरीद लाती।

आते ही बुढ़िया पेड़ के सहारे बैठ गई। फिर बैठी भी न रह सकी। लेट गई। अग्निवर्मा ने उसके मुँह पर पानी छिड़का। छाया में उसको

खींचा। बुढ़िया बैठी, फिर लेट गई। धूप थी, लूह भी चल रही थी।

बुढ़िया का शरीर तप रहा था। किसी ने कहा कि लूह लग गई होगी, थकान तो थी ही। अग्निवर्मा ने माथा छूकर देखा, माथा गरम तवा-सा हो रहा था। वह चौंका।

उसने बुढ़िया को ले जाकर टूटे हुए देवालय में लिटा दिया। पुष्पवल्ली नीम की टहनी लेकर उस पर पंखा करने लगी। अग्निवर्मा बुढ़िया के माथे पर ठण्डे पानी की गीली पट्टियाँ निचोड़-निचोड़कर रखने लगा।

"बेटा, तुम्हें बहुत दूर जाना है। जाओ, इस शरीर का क्या भरोसा कि कब मिट्टी हो जाए।" बुढ़िया ने कहा।

"ऐसी बात न कहो। अग्निवर्मा ने उसको ढाढ़स बँधाया।

"बस एक ही इच्छा है।"

"हाँ, हाँ, पूरी हो जाएगी।"

"बेटा आनेवाली घटनाओं का भले ही मान न हो पर यम के दर्शन दूर से ही हो जाते हैं।"

अग्निवर्मा और पुष्पवल्ली उसकी ओर ध्यान से देख रहे थे। और बुढ़िया शक्ति बटोरकर कहती जाती थी।" जिसका जिन्दगी भर नाम नहीं लिया, अब कैसे कहूँ? पर कहे बगैर तुम कैसे जानोगे? अगर तुम कभी धन्यकटक पहुँचे तो कहना सातवाहन के राजा से··· उनको अपने पुरखे याद होंगे, उनके कर्मचारी भी,···कहना कि देव-वल्लभ की पत्नी उनसे क्षमा माँगने चली थी, पर रास्ते में···"

"माँ तुम भी क्या कह रही हो? मामूली ज्वर है, ठीक हो जाएगा।" अग्निवर्मा ने कहा।

बुढ़िया चुप हो गई। उसका साँस जोर से चलने लगा। फिर उसने आँखें मूँद लीं। अग्निवर्मा नब्ज देख रहा था, वह चल रही थी। बुढ़िया सो गई।

अग्निवर्मा वैद्य की खोज में निकला। उसके साथ पुष्पवल्ली भी

थी। उसे डर था कि वह फिर मन्दिर में जाकर उन लोगों से न उलझ बैठे।

"इस कुग्राम में क्या वैद्य भी मिलेगा?" पुष्पवल्ली ने अग्निवर्मा से कहा। वे टूटे हुए देवालय के बाहर निकल चुके थे। पुष्पवल्ली अपनी ही फिक्र में थी। वह अपने कुतूहल को काबू में रखे हुए थी। उसे मैत्रेयी के बारे में कुछ मालूम न था। वह यह भी न जानती थी कि अग्निवर्मा का उनसे क्या सम्बन्ध था। वह अचरज में थी।

अग्निवर्मा ने अड़ोस-पड़ोस की झोंपड़ियों में पूछा। पर उसे बताया गया कि एक आदमी था जो जड़ी-बूटियाँ जानता था, पर वह भी अब गाँव में नहीं था।

अग्निवर्मा से पुष्पवल्ली कहने लगी, "छोड़ो भी इस बुढ़िया को आज नहीं तो कल यह मिट्टी हो ही जाएगी, तुम अपना समय क्यों बरबाद करते हो? कलाकार हो, कला राजाओं के आश्रय में ही पूछी जाती है। इन जंगलों में न कोई कला को पूछता है, न कलाकारों को ही। नकलचियों की चलती है।"

अग्निवर्मा उसकी ओर घूरने लगा। उसकी दृष्टि में आश्चर्य था और क्रोध भी। पुष्पवल्ली को वह जितना समझाने की कोशिश करता वह और उलझकर पहेली हो जाती। यह भी सम्भव है कि वह बुढ़िया को सास की तरह समझने लगी हो।

"यहाँ काम तो अलग, हमें खाना भी न मिलेगा।" पुष्पल्ली ने कहा।

"पर..." अग्निवर्मा उसकी तरफ देखकर रह गया।

"फिक्र न करो।"

अग्निवर्मा जल्द से जल्द गाँव छोड़कर जाना चाहता था। पर बुढ़िया के कारण चिन्तित था। वहाँ रुका हुआ था।

अँधेरा हुआ, बुढ़िया का बुखार कम होता नजर आ रहा था। वह बात भी कर लेती थी, पर उसमें इतनी शक्ति न थी कि लठिया

के सहारे भी अगले पड़ाव तक चल सके वह एक-दो मिनट बैठती और लेट जाती।

थोड़ी देर बाद टूटे हुए मन्दिर के गिरे हुए दरवाजे में से अग्निवर्मा ने देखा कि कीर्तिवान मैत्रेयी को ज़ोर-जबर्दस्ती कर ढकेलता-सा कहीं ले जा रहा था। उसके साथ कई गाँववाले थे, जो उसके मददगार मालूम होते थे।

अग्निवर्मा ने उसके पास जाना चाहा। पुष्पवल्ली ने कंधा पकड़कर उसे बिठा दिया। वह लाचार वहाँ से हिल न सका। गुस्से के कारण काँप रहा था।

रात को वे लेटे। अग्निवर्मा करवटें बदलता रहा नींद न थी। वह भयभीत था। बुढ़िया गाढ़ निद्रा में थी। पुष्पवल्ली न सो पाती थी, न जाग ही पाती थी।

सवेरे-सवेरे चोर की भाँति अग्निवर्मा और पुष्पवल्ली, अँधेरे-अँधेरे में गाँव छोड़कर चले गए। पता नहीं कि बुढ़िया ने उन्हें देखा था कि नहीं।

२४

अग्निवर्मा चलता तो गया पर ऐसा लगता था जैसे वह अपना मन पीछे छोड़ आया हो। वह रह-रहकर बुढ़िया को याद करता··· अपने को दोषी ठहराता, पछताता। किन्तु पुष्पवल्ली को छोड़कर पीछे जा भी न पाता था।

बुढ़िया को वह रास्ते में मिला था। पर एक ही राह के दो राहगीर होने के नाते वे एक-दूसरे के सहारे हो गए थे। थोड़े समय में ही बुढ़िया ने अपने मातृत्व से उसको प्रभावित कर लिया था। उसकी सहृदयता न होती तो मालूम नहीं कैसे रास्ता कटता ? और वह उस विचारी बुढ़िया को चोर की तरह अकेला छोड़कर चला जा रहा था।

पड़ाव पर पड़ाव आते जाते थे···लम्बा रास्ता तय होता जाता था। कभी रास्ता बीहड़ जंगलों में से गुजरता, कभी उत्तुंग पर्वतों में से, कभी सुन्दर जनपदों में से। ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो चुकी थी। वर्षा ऋतु का प्रारम्भ था

रास्ते में कई बार सैनिक मिले। हर बार नए-नए सैनिक मिलते। वे छुपते-छुपते चलते जाते थे। पुष्पवल्ली भी अग्निवर्मा की सलाह पर पुरुष का वेश धारण कर उसके साथ चलती थी।

ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति के साथ युद्ध जरा ठण्डा पड़ गया था। वर्षा में युद्ध होने की सम्भावना न थी। फिर भी उड़ती-फिरती खबरों से पता लगता था कि कहीं न कहीं सातवाहनों की और रुद्रदमन की सेनाओं की मुठभेड़ हो ही रही थी, बड़े युद्ध की तैयारी हो रही थी।

ज्यों-ज्यों वे वन्यकटक के पास आते जाते, त्यों-त्यों अधिक जनपद भी रास्ते में आते जाते थे, वे सम्पन्न नजर आते थे। काम-धन्धा भी मिल जाता था। वह अराजकता न थी जिसमें कोई चीज़ भी सुरक्षित नहीं कही जा सकती थी। जात-पाँत के बन्धन थे पर वे इतने सख्त न थे। युद्ध के बावजूद लोग अपरिचित का आदर करते थे।

अग्निवर्मा सौराष्ट्र से चला था---जाने कितने राज्यों से होता हुआ वह सातवाहन के राज्य में पहुँच गया था, उसका रास्ता भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक का था।

वर्षा के कारण कई बार ऐसा होता कि अग्निवर्मा और पुष्पवल्ली कई दिनों तक न चल पाते थे। उन्हें सरायों में ही रहना पड़ता। पुष्पवल्ली ही रसोई करती। उसकी देख-भाल करती। भले वे एक संस्कार द्वारा विवाहित न हुए हों, पर वे पति-पत्नी थे। घर-बार की जिम्मेवारी अग्निवर्मा अपनी समझता था, जो वह पूरी न कर पा रहा था। वह उदास रहता। पुष्पवल्ली का धन भी करीब-करीब खतम होने को था।

पुष्पवल्ली उसको प्रसन्न करने की हर तरह से कोशिश करती। अग्निवर्मा के मन में मैत्रेयी खुदी हुई थी, उसको हटाना मुश्किल था, पर पुष्पवल्ली भी अब उसके मन में वही स्थान रखती थी। मनुष्य स्वभाव समीप की चीज की परवाह न कर दूर की चीज़ के लिए तड़पता है। वह हमेशा सोचता कि मैत्रेयी पर क्या गुजर रही होगी। इतना सब होने पर भी पुष्पवल्ली उसके मुख से मैत्रेयी के बारे में न जान सकी।

पुष्पवल्ली जवानी की कली न थी। वह खिल चुकी थी। और खिला फूल जल्दी मुरझा भी जाता है। कुछ भी हो, उसने अग्निवर्मा के साथ रहने का निश्चय कर लिया था। दोनों लगभग एक ही आयु के थे, शायद पुष्पवल्ली ही दो-चार वर्ष बड़ी थी। विपत्तियों ने उनको एक-दूसरे के आगे धकेल दिया था, और वे अब अलग न हो पाते थे।

वे किसी धर्मशाला में ठहरे थे। धर्मशाला के पास मन्दिर था। मन्दिर के प्रांगण नृत्य हो रहा था। गाँव की बाल-बालिकायें नृत्य कर रही थीं। ढोल-ढमाका बज रहा था। कोई उत्सव मनाया जा रहा था।

पुष्पवल्ली ने नृत्य में भाग लेना चाहा। दो-चार बार कदम उठाकर पटके। राग के साथ तालियाँ बजाईं, सिर हिलाया। वह स्थिर बैठ न पाती थी। अग्निवर्मा की ओर उसने मुस्कराकर देखा। फिर दोनों धर्मशाला चुपचाप वापिस चले गए।

नृत्य का लोभ संवरण करना पुष्पवल्ली के लिए बहुत कठिन था। पर उस जीवन की केंचुली वह छोड़ चुकी थी, वह यह निरूपित कर रही थी कि वेश्या भी गृहिणी बन सकती है। अग्निवर्मा जानता था कि वह पूरी तरह बदल गई है। मनुष्य घटनाओं के साथ बदलते हैं, पर स्त्रियाँ उम्र के साथ बदलती हैं—घटनाएँ हों या न हों।

पुष्पवल्ली के पैर भारी हो रहे थे। वह दिन-रात कै करती। न ठीक खा ही पाती। हमेशा भूख सताती। खिले फूल में कहीं बीज बन रहा था। वह खुश थी। अग्निवर्मा खुश भी न हो पाता था। वह भविष्य के बारे में चिन्तित था। और उस पर पितृत्व की जिम्मेवारी भी आ रही थी।

धन्यकटक अभी दस-ग्यारह कोस दूर था। पुष्पवल्ली की हालत बिगड़ गई। उसे ज्वर आने लगा। बड़े-बूढ़ों ने समझाया कि उसको उस हालत में चलाना अच्छा न था। लाचारी थी।

वे कृष्णा नदी के किनारे-किनारे जा रहे थे। कोई एक प्राचीन ग्राम था, पर प्राचीन ग्रामों की तरह वह उजड़ा न था। सम्पन्न था। ग्रामवासी भी दयालु थे। काम-धंधा भी मिल सकता था। उन दोनों ने वहीं ठहरने की ठानी।

ग्रामिक की मदद से मकान बनाने के लिए थोड़ी जगह मिल गई। अग्निवर्मा ने ताड़ के पत्तों से एक झोंपड़ा बना लिया। झोंपड़ा सुन्दर

था। उस ग्राम में कई झोंपड़े थे पर उस झोंपड़े की आकार-आकृति बिल्कुल भिन्न थी। लोग उस झोंपड़े को देखने आते। कई अग्निवर्मा से उस तरह के झोंपड़े बनवाते। उसका इस तरह जीवन निर्वाह भी हो जाता।

उनके जीवन का नया अध्याय धीमे-धीमे प्रारम्भ हो रहा था।

२५

"इतनी दूर तुम झोंपड़े बनाने के लिए थोड़े ही आए थे ?" पुष्पवल्ली ने झोंपड़े के बाहर के बगीचे की क्यारियाँ ठीक करते हुए पूछा। अग्निवर्मा उससे कुछ दूर मेंढ बना रहा था।

पुष्पवल्ली पिछले दिनों और भी बदल गई थी। वह प्राय: झोंपड़े में ही रहती। वह पहिले देवी-देवताओं की पूजा नहीं किया करती थी, शायद उनमें विश्वास भी न था। किन्तु तब नियमपूर्वक पास वाले मन्दिर में पूजा कर आती थी। वह माता बनने वाली थी।

"अब पास ही तो है धन्यकटक, जाकर अपनी इच्छानुसार काम खोजो।" पुष्पवल्ली कह रही थी।

"और तुम ?" अग्निवर्मा ने मुस्कराते हुए पूछा। वे दोनों हमेशा साथ रहते। अगर काम पर कहीं अग्निवर्मा को जाना भी पड़ता तो घर वापिस जाने के लिए उतावला रहता। भावुक प्रकृति का तो था ही। उस जैसे व्यक्ति जब स्त्री के मोह में पड़ते हैं तो पतंगे होकर ही रहते हैं। एक क्षण का वियोग भी उनके लिए असह्य हो उठता है।

"इस हालत में मुझे भी क्या साथ ले चलोगे ? तुम्हारा लड़का यह भी न कह पाएगा कि वह फलाने ग्राम में पैदा हुआ था।" दोनों एक-दूसरे को देखकर हँसने लगे।

"पास ही तो है······दो-चार दिन में वापिस आ सकते हो। नगर ही देख आना।" पुष्पवल्ली कह रही थी।

"अगर कहीं इस बीच में······" अग्निवर्मा ने अपना वाक्य पूरा

न किया, करने की भी जरूरत न थी, पुष्पवल्ली समझ गई थी।

"पर तुम क्या करोगे?" पुष्पवल्ली ने पूछा, मगर उसके स्वर में कुछ ऐसा अनुरोध था कि वह उसे छोड़कर न जाए।

"तो तुम मुझे छोड़कर जाने को कहती हो?"

पुष्पवल्ली प्रेम भरी बड़ी-बड़ी आखों से उसकी ओर देखती रही। थोड़ी देर बाद उसने कहा, अभी करलो जी भरके चोंचले, फिर मौका न मिलेगा।"

शायद अग्निवर्मा कुछ और कहता, पर इस बीच में आस-पास के घरों से स्त्रियाँ पुष्पवल्ली का हाल-चाल पूछने चली आयीं। पुष्पवल्ली को घर के अन्दर जाना पड़ा। अग्निवर्मा बाहर बैठ गया।

"अरी, कहीं तेरी अक्ल तो नहीं मारी गई है? खुरपी लेकर तुम बाग में क्या कर रही थीं?" गाँव की एक बुढ़िया ने उसको डाँटा-डपटा। वही फिर एक और बुढ़िया को बुला लाई। घर में स्त्रियों की संख्या बढ़ती जाती थी। अग्निवर्मा वहाँ बैठा न रह सका।

वह उठकर नदी किनारे चला गया। वह बहुत देर तक वहीं पड़ा रहा। रेती में कभी कुछ लिखता, फिर सिर के नीचे हाथ रखकर पेड़ के पत्तों के बीच से दूर आकाश को देखता। उठकर घर की ओर जाता, वापिस चला आता। जब कुछ न सूझता तो मिट्टी लेकर खिलौने बनाता।

यह क्रम दो-तीन दिन तक चलता रहा। रोज घर में औरतें इकट्ठी हो जातीं। जाने क्या-क्या करतीं, पुष्पवल्ली तड़पती, कराहती। अग्नि-वर्मा को अन्दर न जाने दिया जाता। वह बाहर चला जाता, छटपटाता।

सान्ध्या-तारा निकल चुका था, अँधेरा होने को था। मन्दिर में गाना हो रहा था। किसान खेतों से लौट रहे थे। नदी के किनारे से जब अग्निवर्मा घर पहुँचा तो एक बुढ़िया ने उसके हाथ में एक बच्चा रख दिया। अग्निवर्मा खुशी से कांप गया। खुशी के आँसू आ गए। आँखें गाड़-गाड़कर बच्चे को देखने लगा।

"बेटा, पिता की नजर बुरी होती है···लड़की है।" बुढ़िया ने एक औरत के हाथ में बच्चा देकर उसको अन्दर भेज दिया। "भगवान् की दया से सब ठीक है, माँ भी ठीक है। जाओ, ग्रामिक को लड़की के जन्म की सूचना दे आओ।"

अग्निवर्मा की चाल में विजली की गति-सी आगई। रह-रह कर बच्चे की आकृति उसकी आँखों के सामने आती, गोल, मटोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, नोकीली नाक, ठीक माँ की तरह। क्या नाम रखा जाए? श्री वल्ली? नहीं, यशदा? नहीं, कीर्तिप्रभा? उसमें तो कीर्तिवान का नाम आता है। नहीं, मैत्रेयी क्या सोचेगी? वह कहाँ है? क्या गुजर रही होगी? नहीं, उन सब बातों के बारे में सोचने का यह समय नहीं है।

पुष्पवल्ली लड़का चाहती थी न? लड़की। क्या इसे भी नाचना-गाना सिखाएगी? क्यों नहीं? जैसी माँ वैसी लड़की। नहीं, नहीं, और क्या? वह भी क्या मेरी तरह पत्थर पर खुट-खुट करेगी? नहीं, नहीं—नहीं मालूम।

इसी उधेड़-बुन में वह ग्रामिक के घर पहुँचा। ग्रामिक भी ऐसे खुश हुए जैसे उनके घर में लड़की पैदा हुई हो—वे ग्राम के लिए पितृ-तुल्य थे। वे लड़की को देखने के लिए अग्निवर्मा के साथ गए।

उस दिन ग्रामिक की आज्ञा पर मन्दिर में बाजे नगाड़े बजते रहे। ग्रामवासियों को मिठाइयाँ बाँटी गईं।

ग्राम उन दोनों को पति-पत्नी समझता था, और अतिथि के रूप में उनका आदर करता था। न अग्निवर्मा उस रात सो सका, न पुष्प-वल्ली ही। दोनों ही पुलकित थे।

२६

अग्निवर्मा कुछ दिन इतना मस्त रहा कि न उसे दुनिया की ही फिक्र थी न रोजी की ही। हमेशा पुष्पवल्ली और बच्चे के साथ रहता। पुष्पवल्ली का वह रहा-सहा चुलबुलापन माता बनते ही जाता रहा। पर अग्निवर्मा का बचपन फिर उभर आया था।

पुष्पवल्ली के बहुत कहने पर वह एक दिन सवेरे-सवेरे धन्यकटक के लिए निकल पड़ा। रास्ता नदी के किनारे था, ज्यों-ज्यों वह चलता जाता त्यों-त्यों नदी का पाट चौड़ा होता जाता था। चहल-पहल अधिक होती जाती थी।

उसे ऐसा लग रहा था, जैसे कोई सपना देखते-देखते आँखें खोल दी हों, और स्वप्न यकायक साकार हो गया हो। दूर से ही धन्यकटक की बड़ी-बड़ी अट्टालिकायें, प्रासाद, घर, पर्वत की पृष्ठभूमि में दिखाई देते थे। एक तरफ पुण्य सलिला कृष्णा थी, और दूसरी तरफ नतमस्तक श्रीपर्वत की पवित्र पर्वत-श्रेणी।

नदी के किनारे कई ऊँचे मन्दिर थे। कुछ नासिक के मन्दिरों के समान थे, गगनचुम्बी, कलश किरीट धरे, और कुछ भिन्न थे। प्राकार के मध्य में बड़ा गोपुर, प्रस्तर खचित राज-पथ, छोटा मन्दिर, विशाल प्रांगण। अग्निवर्मा एक मन्दिर में जाता, वह हर पत्थर को इस बारीकी से देखता कि लोग उसकी ओर आश्चर्य से देखने लगते।

उसकी वेशभूषा विचित्र थी। उसका रूप-रंग भी अलग था। वहाँ

के लोग उतने गौर वर्ण के न थे जितना कि वह था। उसकी तरह वे खूबसूरत भी न थे। लम्बे, कद्दावर, साँवले जरूर थे वे।

धन्यकटक की हर चीज उसको चकित कर रही थी। युद्ध के बावजूद राजधानी बनती जा रही थी। शहर में प्रवेश करने के लिए एक विशाल द्वार था। सशस्त्र द्वारपालक पहरे पर थे। पर वे किसी को रोकते न लगते थे। द्वार के बाद सैनिकों के रहने का स्थल था। बड़ी सेना एकत्रित थी। युद्ध चल रहा था। इस विषय में धन्यकटक के लोग सजग थे।

फिर कतार में अश्व खड़े थे। अग्निवर्मा उनको एकटक देखता रहा। वह अश्वों के बीच पला था, वे उसको विशेष रूप से आकर्षित करते थे।

लुहार और बढ़ई काम कर रहे थे। धड़ाधड़ तलवारें और युद्ध की अन्य सामग्री बन रही थी। दुकानों में कई ऐसी चीज़ें थीं, जिनका नाम भी अग्निवर्मा ने न सुना था। यह वह जरूर जान गया था कि धन्यकटक का दूर-दूर से व्यापार होता था, पर उसने कभी कल्पना भी न की थी कि धन्यकटक इतना बड़ा और समृद्ध होगा।

वह एक-एक चीज़ को ध्यानपूर्वक देखता जाता था। गली के अंत में ऊँची दीवार थी। बड़े-बड़े पत्थरों के पहाड़-सी, उसके बीच में बड़ा द्वार था। द्वार खुला था, द्वार के मध्य में सफेद विशाल महल दिखाई देता था। सातवाहन राजा वहीं रहा करते थे। उसने अन्दर जाना चाहा पर द्वारपालकों ने रोक दिया।

वह महल की प्रदक्षिणा करता गया। चारदीवारी से एक भवन बाहर बना हुआ था। उसकी बनावट विचित्र थी। वहाँ राजा आया करते थे और अपनी प्रजा को दर्शन दिया करते थे। उस भवन में से ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ निकल रही थीं जो कृष्णा नदी के निर्मल जल के चरण छूती-सी लगती थीं। कृष्णा की यहाँ जो शोभा थी, वह नासिक में गोदावरी की भी न थी।

अग्निवर्मा नगर की शोभा पर इतना मुग्ध था कि किसी से काम के बारे में कुछ पूछ भी न पाता था। वह सीढ़ियों पर बैठ गया। लोग नाना प्रकार के वस्त्र पहिनकर आते, चले जाते। कोई पैदल, कोई घोड़े पर सवार हो, कोई पालकी पर। अग्निवर्मा ने रास्ते में इतने उजाड़ शहर देखे थे कि वन्यकटक की चहल-पहल पर उसे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा था।

महल के पिछवाड़े में बड़े-बड़े छज्जे बने हुए थे। कहीं कहीं छोटे छिद्र भी थे, और कहीं-कहीं विशाल स्तम्भ, खुला स्थान, बड़े-बड़े परदे खिंचे हुए थे।

उसके बाद उद्यान था। वहाँ नगर-निवासी विश्राम किया करते थे। कहीं तो वृक्ष इतने घने थे कि अरण्य-सा लगता था। नगर के नवयुवक और नवयुवतियाँ टहल रही थीं। वातावरण में एक तरह का उल्लास था जो उसने पहिले कहीं भी न देखा था। उसका अचरज बढ़ता जाता था।

उद्यान के बाद बड़ी धर्मशाला थी। कितने ही आदमी विचित्र-विचित्र वेषभूषा में वहाँ थे—कोई व्यापारी था, कोई बैरागी, कोई योद्धा, कोई किसान, जगह-जगह के लोग थे। सैनिक भी वहाँ पहरा दे रहे थे।

धर्मशाला में अग्निवर्मा बैठ गया, आराम करने लगा। धन्यकटक पहुँचकर उसे गुरु की याद सताने लगी थी। उसका ख्याल था कि कहीं वे किसी मन्दिर में न हों।

आखिर उसने एक व्यक्ति से गुरु का हुलिया बताते हुए उनके बारे में पूछा। व्यक्ति नगर का ही जान पड़ता था। अग्निवर्मा के यह प्रश्न करते ही वह उसकी ओर घूर-घूरकर देखने लगा। एक तो उसको उसकी बात अजीब-सी लगी, दूसरे उसकी भाषा ऐसी थी जो धन्यकटक में न बोली जाती थी। वह पश्चिम की थी, वहाँ कोई और भाषा बोली जाती थी। वहाँ की भाषा थोड़ी बहुत अग्निवर्मा ने गाँव में सीख ली

थी, पर उसका उच्चारण अब भी अजीब था। यह स्पष्ट जाना जा सकता था कि वह पश्चिम से आया था।

उस व्यक्ति को कुछ सन्देह हुआ। उसने कोई जवाब न दिया अग्निवर्मा को वहाँ छोड़ वह चला गया, वह कुछ न समझ सका।

२७

सब जगह काम हो रहा था पर अग्निवर्मा अब भी काम की तलाश में था। सभी व्यस्त थे। और वह इधर-उधर बेकार फिर रहा था।

वह अगले दिन उठकर नगर के उस प्रान्त की ओर गया जहाँ वह पिछले दिन न जा सका था, महल के पास सैनिकों के घेरे थे, फिर एक बड़ी सड़क, उसके बाद धन्यकटक का बड़ा बाजार। उसके बाद नगर-वासियों के मकान थे, छोटे-बड़े, टूटे-फूटे, आलीशान नगर का यह प्रान्त किसी और सम्पन्न नगर की भाँति ही था।

मकानों के बाद पहाड़ था। पहाड़ों पर गड़रिये, ग्वाले, अपनी भेड़-बकरी, गो-भैंस चरा रहे थे। घना जंगल भी न था। हरी घास भी न थी। गंजा पहाड़ था। पहाड़ के पार तलहटी में एक ऊँची दीवार थी। वह नगर की पराकाष्ठा थी।

अग्निवर्मा अन्यमनस्क-सा घूमता जाता था। वह इतना प्रसिद्ध था नहीं कि लोग उसे बुलाकर काम दें। कोई ऐसा काम भी उसने अभी तक न किया था जिसके कारण उसकी ख्याति देश-देशान्तर में फैल गई होती। जो कुछ किया था वह पहिले ही धराशायी हो चुका था। और उसमें गर्व इतना कि किसी से कुछ न कह पाए। दिल की बातें दिल में ही उथल-पुथल कर रही थीं। वे भाव जो पत्थर की खोज में थे अन्दर ही अन्दर थपेड़े मार रहे थे।

नई गृहस्थी, नई जिम्मेदारी, रोटी का सवाल उसके सामने था।

वह अपने को ढाढ़स भी बँधाता कि वह काम खोज रहा था, पर वहीं उसे मन में कोई चीज़ यह कहती भी लगती कि काम इस तरह नहीं खोजा जाता।

वह गली-गली नुक्कड़-नुक्कड़, सड़क-सड़क घूमता जाता था। उसके पीछे वह व्यक्ति जो उसको पिछले दिन धर्मशाला में मिला था छाया की तरह चलता जाता था।

उस व्यक्ति को अग्निवर्मा को इस तरह घूमता-फिरता देख शक हो रहा था। अग्निवर्मा के बारे में सन्देह हो जाना स्वाभाविक था। वह हट्टा-कट्टा आदमी सीना ताने लम्बी लोहे की छड़ी लिए उसके पीछे चल रहा था। चाल-ढाल से राजकर्मचारी लगता था।

अग्निवर्मा थका-माँदा फिर उस जगह वापिस चला गया जहाँ राजप्रासाद के नीचे एक बड़ा घाट बना था। आती-जाती नौकाओं को ध्यान से देखने लगा। वह व्यक्ति भी उसके साथ बैठ गया। अग्निवर्मा ने सोचा धर्मशाला पास थी, शायद वह भी नदी का दृश्य देखने आ गया हो। उस व्यक्ति ने अग्निवर्मा से बातचीत न की।

अग्निवर्मा कलाकार था। खाली न बैठ पाता था। वह एक हाथ पर दूसरे हाथ के किसी चित्र की कल्पना करके कुछ खींचने लगा। कभी-कभी नौकाओं की ओर इशारा कर कुछ गिनने लगता। वह व्यक्ति उसको घूरकर देखता।

फिर दृश्य भी कब तक देखता। वह उठकर नदी के किनारे चल दिया, वन्यकंटक आकर भी वही काम किया जो वह न करना चाहता था, तो वन्यकटक आने जी जरूरत ही क्या थी ? वह सोचता। छोटा था नहीं कि घोड़े चराता। नगर घूमकर देख आया था लेकिन कहीं मन्दिर नहीं बन रहा था। वह क्या करता।

मन्दिर में जाकर वह थोड़ी देर बैठा रहा। फिर चारों तरफ घूम कर उनका निरीक्षण करने लगा।

दीवारों पर कई मूर्तियां बनी हुई थीं। कोयले से किसी मूर्ति को

मन्दिर के प्रांगण में खींचता और मिटाता। कभी नाक-भौं चढ़ाकर बनी मूर्तियों के बारे में निराशा प्रकट करता। भाषा की कठिनाई के कारण किसी से कुछ बोलता भी नहीं। वह व्यक्ति अग्निवर्मा की हरकतों को गौर से देख रहा था। अब उसके साथ दो और आदमी आ मिले थे। जो उससे भी अधिक सजग लगते थे।

अग्निवर्मा धन्यकटक देख चुका था। उसके बारे में उसकी एक धारणा बन गई थी। उस साकार सपने में उसको आशा थी कि कभी न कभी जरूर मनचाहा काम मिलेगा, युद्ध की वजह से अजीब वातावरण बना हुआ था, बाद में सब ठीक हो जाएगा, वह अपने को इस प्रकार सान्त्वना देता।

जाते-जाते उसने द्वार के पास एक सज्जन को देखा। वे शायद मन्दिर के कर्त्ता-धर्ता थे। वेशभूषा से प्रतिष्ठित जान पड़ते थे। उसने हिम्मत बटोरकर पूछा। "यहाँ कोई मन्दिर बनेगा।"

"नहीं तो······तुम······" वे सज्जन कुछ कह ही रहे थे कि अग्निवर्मा बिना कुछ सुने आगे चला गया। हो सकता है उसने उत्तर की पहिले ही कल्पना कर ली हो।

वह मन्दिर से निकलकर गाँव की ओर निकल पड़ा। पत्नी, पुत्री उसको पुकारती लगती थीं। वह कदम बढ़ाता गया। वह यह न जानता था कि उसके पीछे दो व्यक्ति उसी दिशा में चले आ रहे थे।

२८

अग्निवर्मा घर जो गया तो एक-डेढ़-महीने तक वहीं पड़ा रहा। कुछ न कुछ काम कोई दे ही देता था। अगर कहीं कुछ नहीं मिलता तो वन में जाकर ईंधन बटोर लाता।

वे दो व्यक्ति उस गाँव तक आए, उसकी झोंपड़ी उन्होंने देखी, और वे धन्यकटक वापिस चले गये, अग्निवर्मा को उनका पता भी न लगा।

अग्निवर्मा का निराश होना स्वाभाविक था। एक-दो बार कहीं कुछ पी भी आया था, रात भर नाच-गाने में मस्त रहता। और जब पुष्पवल्ली पूछतलब करती तो उसको करारी डाँट बताता।

पुष्पवल्ली स्वयं कलाकार स्वभाव की थी। उसको भी समझ सकती थी। वह चिकना घड़ा होकर रह जाती। कई दिनों तक वह सहती रही।

अग्निवर्मा को लाचार हो कई बार ऐसे काम करने पड़ते जिनका वह आदी न था। ग्रामिक ही उसे अक्सर बुला ले जाते। वह न भी न कर पाता।

ग्राम के युवक सेना में भरती हो गए थे। खेतीवाड़ी करने के लिए भी काफ़ी आदमी न थे। वे बूढ़े-बुजुर्ग जो गाँव में नदी किनारे पेड़ों के नीचे बैठे बाप-दादाओं की कहानियाँ सुनाया करते थे, अब हँसियाफावड़े लेकर खेतों में खून-पसीना एक कर रहे थे।

एक बार राजा के कार्यालय से आज्ञा आई कि ग्राम का धान सेना के लिए राजधानी पहुँचा दिया जाय। हर ग्रामवासी ने अपना धान पारिवारिक खर्च के लिए बचा बाकी राजा के लिए दे दिया था। धान का राजधानी ले जाना आसान न था। गाड़ियाँ थीं, पर गाड़ियाँ हाँकने के लिए लोग न थे। युद्ध का ज़माना, लोग कम ही हिम्मत कर पाते थे। ग्रामिक ने स्वयं जाने की ठानी। उन्होंने अग्निवर्मा को भी बुलाया। अग्निवर्मा धन्यकटक न जाना चाहता था। धन्यकटक की नगरी उसे ललचा रही थी, इसलिए वहाँ जाकर वह निराश लौटना न चाहता था। इसलिए वातावरण के परिवर्त्तन की प्रतीक्षा करता वह जाना ही नहीं चाहता था। उसने कोई बहाना कर दिया।

"जाते क्यों नहीं हो ?" पुष्पवल्ली ने पूछा। उसे यह गवारा न था कि प्रतिभाशाली अग्निवर्मा रोजी के लिए इधर-उधर के काम करता रहे। उसे वह कार्य के लिए प्रेरित करना चाहती थी, पर सफल न हो रही थी।

"जाकर क्या करूँगा ?"

"घर में चूड़ियाँ पहिनकर क्यों नहीं बैठ जाते ?"

"हाँ, अगर तुम्हारे पास रहने के लिए चूड़ियाँ पहिननी पड़ जाएँ तो उन्हें भी पहन लूँगा।" अग्निवर्मा ने मुस्कराते हुए कहा। पुष्पवल्ली झुँझला उठी, और बच्चों को लेकर नाक-भौं चढ़ाती हुई पड़ोसिन के पास चली गई। अग्निवर्मा उसे न रोक सका। वह बिस्तरे पर पड़ा उसकी इन्तजार करता करवटें बदलता रहा।

ग्रामिक गाड़ियाँ लेकर शाम को स्वयं जा रहे थे। पुष्पवली मुँह सुजाकर अग्निवर्मा के पास आ गई।

"अगर तुम इस तरह इस गाँव में पड़े रहने के लिए आये थे तो इतनी दूर परदेश में आने की क्या जरूरत थी ? मैं समझती थी कि तुम कलाकार हो, मुझे मालूम न था कि तुम घर में बैठे मक्खियाँ मारोगे।

कोई बुलाकर काम नहीं देता, सब दर-दर भटककर धक्के खा-खा कर काम माँगते हैं।"

"जानता हूँ।" अग्निवर्मा ने गरम होते हुए कहा।

"जानते हो तो यहाँ काहे को बैठे हो? यहाँ कोई काम न देगा। भगवान् ने हुनर दिया है···"

"इसीलिए तो गाड़ियाँ हाँकने के लिए कह रही हो।"

"गाड़ियाँ हाँकने के लिए नहीं कह रही, ग्रामिक के साथ धन्यकटक जाने के लिए कह रही हूँ, वे अपने परिचितों से तुम्हारा परिचय करा देंगे। कोई रास्ता निकल आयेगा, हाथ-पैर तो पटकने ही होंगे···"

"कलाकार का काम कोई ठेका नहीं है कि दौड़-धूप कर उसे लो, अगर लोगों को कला की ज़रूरत है तो आएँगे, बुलाकर ले जाएँगे, नहीं ले जाएँगे तो यह खेती ही भली।"

"पर किसी को पता तो लगे···"

"पता लग जायेगा, भूखों मरना पड़ जाय मैं किसी के पास नहीं जाऊँगा, घर में बैठा मूर्त्तियाँ बनाऊँगा। किसी न किसी दिन कोई न कोई तो देखेगा।

"अगर घर में बनानी थी, तो भूखे-प्यासे क्यों धन्यकटक आँधी-पानी में चले आए थे? देखने वाले वहाँ भी आ जाते, तुम घर में खुट-खुट करते रहोगे, और इस बीच भगवान् न करे, यह ज़िन्दगी ही खतम हो जाये···"

"भविष्यवाणी कब से करना सीख गई हो?"

"कला अरण्य पुष्प की तरह नहीं खिलती, वह राजोद्यान में खिलती है···जाओ।"

"नहीं जाऊँगा, क्या ज़रूरत है?"

"तुम नहीं जाओगे तो मैं जाऊँगी। राजा के सामने विलख-विलख कर रोऊँगी, तुम्हारी कीर्ति बखानूँगी।" पुष्पवल्ली ने बच्ची को

चारपाई पर पटक दिया। और साड़ी सँभालती हुई घर से बाहर निकल गई।

अग्निवर्मा कुछ देर तक खड़ा रहा। फिर उसने पुष्पवल्ली को पुकारा। वह फुंकारती हुई वापिस आई। अग्निवर्मा झोंपड़े के द्वार के पास खड़ा रहा।

"कम से कम उस विचारी वुढ़िया का सन्देश तो राजा तक पहुँचा आओ।" पुष्पवल्ली ने कहा।

अग्निवर्मा सहसा गाड़ियों की ओर चला गया। उसने पीछे मुड़ कर भी न देखा, वह सिर नीचे किए हुए था। और पुष्पवल्ली बच्ची को लेकर द्वार के सहारे साँस रोके खड़ी थी, अपनी आँखों से वह सन्तोष और दुःख की गंगा-जमना बहा रही थी।

२६

अग्निवर्मा के अतिरिक्त ग्रामिक के साथ दो-तीन और आदमी थे।

एक छोटा-मोटा काफिला वन्यकटक की ओर जा रहा था। एक-एक आदमी के जिम्मे दो-दो, तीन-तीन गाड़ियाँ थीं। ग्रामिक गम्भीर हो चलते जाते थे। उसके बाद अग्निवर्मा की गाड़ियाँ थीं। फिर दूसरों की।

रात को उन लोगों ने मार्ग में ही विश्राम किया। प्रातःकाल फिर गाड़ियाँ चलीं। रास्ता ठीक न था। गाड़ियों की गति धीमी थी। सूर्य की किरणें प्रखर होने लगीं। उनकी गति और भी मन्द हो गई। बैल मनुष्य से भी धीमे-धीमे चलने लगे।

वन्यकटक की ओर ववंडर-सा उठा। ऐसा लगता था जैसे कोई गरजता बादल उनकी ओर चला आ रहा हो। वे चौंके। थोड़ी देर में घुड़सवार वहाँ आ ही पहुँचे। सशस्त्र, युद्ध के लिए सन्नद्ध। एक के बाद एक घोड़ा आता जाता था। सेना असंख्य-सी लगती थी।

सेना को देखकर बैल बिदक पड़े। ग्रामिक की गाड़ी उलटती-उलटती बची। वे स्वयं बाल-बाल बचे। अग्निवर्मा के बैल भी जुआ फेंक, दुम उठाकर, जंगल में भाग गए। दो-तीन गाड़ियाँ लुढ़क गई थीं। कई और बैल भागे जा रहे थे। बोरों में से धान बिखर गया था।

ग्रामिक, अग्निवर्मा आदि स्तब्ध काष्ठ की तरह खड़े थे। और सेना चलती जाती थी। बड़े-बड़े योद्धा, शिरस्त्राण, तलवार, कटार लिये, घोड़े

भी फौलादी लगते थे। टाप···टाप बढ़ती जाती थी। घोड़ों के बाद गाड़ियाँ, उनमें युद्ध का सामान लदा था। फिर घोड़े। पूरी की पूरी छावनी पश्चिम की ओर जा रही थी।

सेना के गुजरने में काफ़ी समय लग गया। ऊबड़-खाबड़ सड़क और भी खराब हो गई। दो आदमी बैलों को लेने जंगल में गए। अग्निवर्मा और ग्रामिक धान बटोर-बटोरकर फिर बोरों में भरने लगे।

आस-पास कहीं पेड़ न थे। छोटी-छोटी झाड़ियाँ थीं। पथरीले टीले नंगे थे। ग्रामिक की बुरी हालत हो रही थी। अग्निवर्मा भी पसीने से तरबतर था। लगातार हाँफ रहा था।

गाड़ियों में सामान लद गया। पर तुरन्त चल न पाए। वे थक गए थे। जबर्दस्त भूख लग रही थी। धूप बढ़ती जाती थी। भरी गाड़ियों के नीचे बैठ वे खाने-पीने लगे। बैलों के सामने भी घास डाल दी गई।

"सेना पश्चिम की ओर जा रही है। ज़ोर-शोर से फिर युद्ध जारी है, मालूम होता है।" ग्रामिक ने कहा।

"हूँ," अग्निवर्मा ने कौर निगलते हुए कहा।

"युद्ध तो बहुत दिनों से चल रहा था, पर जो पहिले लपट-सी थी अब पूरी आग हो गई है। दावाग्नि।" वृद्ध ने ग्रामिक से कहा।

"क्या इस बार यज्ञश्री सप्तकर्णी की विजय होगी?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"आसार तो कुछ ऐसे ही हैं कि होगी। यज्ञश्री ने फिर सातवाहनों की शक्ति संगठित कर ली है। वे अपने राज्य का निरन्तर विस्तार कर रहे हैं। रुद्रदमन विजयोन्माद में अत्याचार करने लगा था। प्रजा उसके साथ नहीं है। प्रजा साथ न हो तो राजा कर ही क्या सकता है? राजा यज्ञश्री की प्रजा उनकी रक्षा के लिए कोई भी बलिदान अधिक नहीं समझती। यज्ञश्री के लिए यह अपने वंश के संरक्षण का प्रश्न है। विजय की आशा न होती तो वे युद्ध में उतरते ही न।"

"पर···पर···" ग्रामिक कह ही रहे थे कि अग्निवर्मा को कुछ सन्देह होने लगा।

"पर···तुम शायद कहना चाहते हो कि रुद्रदमन की लड़कियाँ सातवाहन के वंश में विवाह द्वारा पहिले ही आ गई हैं। इसलिए युद्ध में शिथिलता आने की सम्भावना है। नहीं, यह कभी नहीं होगा। हिन्दू स्त्रियाँ पेड़ की तरह हैं, जिसके साथ कलम लग गई उसी के साथ बड़ी होती हैं। जिस घर में व्याही जाती हैं वही उनका घर हो जाता है। उसी के लिए वे मरती-जीती हैं। इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता।"

अग्निवर्मा कुछ न बोला। साथ वाले आदमी ने कहा, "अगर सेना इसी तरह आती रही तो हमारा आगे जाना मुश्किल हो जाएगा।"

"सेना तो जा चुकी है।" ग्रामिक ने कहा।

"किन्तु क्या भरोसा कि फिर न आएगी? जब सेना ने कूच किया है तो एक टुकड़ी के बाद दूसरी आती ही जाएगी।" अग्निवर्मा ने कहा।

"पर इसका मतलब यह नहीं कि हम वापिस चले जाएँ। राजाज्ञा है। हमारा भी तो युद्ध में कर्त्तव्य है। चाहे कुछ भी हो हमें आगे बढ़ना ही होगा। उठो।"

फिर गाड़ियाँ रास्ते पर कचर-मचर करने लगीं। थोड़ी देर बाद गाड़ियों का काफ़िला और भी बड़ा हो गया। आस-पास के गाँव वाले भी उसी रास्ते से राजाज्ञा पर राजधानी–धान–खाद्य-सामग्री ले जा रहे थे।

मुश्किल से धन्यकटक का रास्ता एक दिन का था। पर गाड़ियों की चाल इतनी धीमी थी कि धन्यकटक पहुँचते पूरे दो दिन लग गए।

वे धन्यकटक पहुँचकर धर्मशाला में ठहरे। धान कर्मचारियों को सौंप दिया गया।

युद्ध का ज़माना था, ग्रामिक का ग्राम से अनुपस्थित रहना अनुचित था। वे उसी दिन गाड़ियों को लेकर वापिस चल दिए। अग्निवर्मा के कहने पर उन्होंने उसको धन्यकटक में रहने की अनुमति दे दी। उसकी गाड़ियाँ वे स्वयं ले गए।

३०

यद्यपि अग्निवर्मा को जान-पहिचान का वन्यकटक में कोई न था तो भी उसने निश्चय कर लिया कि वह राजा के दर्शन करेगा।

राजा कैसे हैं? क्या उसे राजमहल में जाने दिया जायगा? यहाँ राजा को देखने की क्या परम्परा है? क्या उसे बुढ़िया का सन्देश पहुँचाना चाहिए? कहीं वे उस पर ही सन्देह करने लगे तो? ये प्रश्न उसके मन में फनफना रहे थे।

वह एक बार राजमहल तक गया भी, पर वह सैनिकों का जमघट देखकर वापिस चला आया। राजा के समक्ष जाने से पहिले उनको समझ लेना कहीं अच्छा होगा, उसने सोचा। उनके हाव-भाव से वह उनके व्यक्तित्व को आँकना चाहता था। न जाने क्यों उसको भय लग रहा था।

वह वहाँ से नदी के किनारे गया। वहाँ भी भीड़ थी और भी राज-महल के उस पार्श्व की ओर देख रही थी जहाँ प्रासाद का एक भाग नदी को छूता था। घाट बना हुआ था। रोज राजा वहाँ नदी में स्नान करके सूर्य-वन्दन किया करते थे। उनके साथ उनकी प्रजा भी उस पूजा में सम्मिलित होती थी।

अग्निवर्मा वहीं खड़ा हो गया। उसके आने की खबर शायद उन लोगों को भी मिल गई थी जो पहिले उसका पीछा करते ग्राम तक हो आए थे। वे उसके पीछे खड़े थे। वह मूँछोंवाला हट्टा-कट्टा व्यक्ति वहाँ न था।

राजा उच्च वेदी पर आए। भीड़ ने उनको नमस्कार किया। राजा ने प्रजा का अभिवादन किया। अग्निवर्मा के हाथ भी सहसा जुड़ गए। वह राजा के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ। काले घुँघराले बाल, उच्च मस्तक, घनी भौंहें, लम्बी नाक, बड़ी दाढ़ी, भरा चेहरा, विशाल वक्षस्थल, कद्दावर। उनको देखते ही अग्निवर्मा ने उनकी मूर्ति की कल्पना की।

प्रजा का उनके प्रति उत्साह देखकर उसे वे क्षमाशील, कृपालु, मालूम होते थे। उनके हाव-भाव से यद्यपि विनय नहीं टपकता था तो भी वे अहंकारी और क्रूर नहीं जान पड़ते थे।

राजा सूर्य-वन्दन करके राजप्रासाद में चले गए। उनके जाते ही प्रजा भी तितर-बितर हो गई। हिम्मत करके वह राजप्रासाद की ओर चला। वे दो व्यक्ति भी उसके पीछे चलते जाते थे। वह राजप्रासाद के द्वार पर पहुँचा ही था कि उनमें से एक ने पूछा। "तुम वन्यकटक के रहने वाले हो ?"

"नहीं तो," अग्निवर्मा ने चौंककर कहा।

"कहाँ के रहने वाले हो ?" उन्होंने पूछा।

अग्निवर्मा से तुरन्त उत्तर देते न बना। वह भयभीत हो इधर-उधर देखने लगा।

"बताओ, कहाँ के हो ?" वे लोग फिर गरजे।

अग्निवर्मा कहता तो क्या कहता ? शक्ल ही बता रही थी कि वह परदेशी था। युद्ध के कारण लोगों का पारा यूँ ही चढ़ा हुआ था। सैनिक सजग थे, कर्मचारी सावधान थे। परदेशियों की हरकतें ध्यान से देखी जा रही थीं।

"कहो, कहाँ के हो ?" उस व्यक्ति ने कन्धा पकड़कर झकझोरा। उन्हें गजरता देख, देखते-देखते अच्छी-खासी भीड़ वहाँ एकत्रित हो गई।

"नहीं बताओगे, कहाँ के हो ?"

"नासिक........" अग्निवर्मा के मुख से निकल पड़ा।

"नासिक ? वहाँ तो रुद्रदमन का राज्य है। कब आए ?"

"अर्सा हो गया।" अग्निवर्मा कुछ कह नहीं पा रहा था। वह बुरी तरह काँप रहा था।

"क्या काम करते हो ?"

अग्निवर्मा क्या कहता, उसकी वृत्ति कुछ थी और वह कर कुछ और रहा था। अभिमान कहने नहीं देता था कि वह कलाकार था। वह चुप रहा।

"आवारागर्दी करते होगे ? जाति क्या है ? कौन हो ?"

ये प्रश्न उससे कई बार पूछे गए थे। पर वह उत्तर न दे पाया था। वह निरुत्तर, त्रस्त खड़ा रहा। और भीड़ बढ़ती जाती थी।

"यहाँ क्यों आए हो ?"

अग्निवर्मा को भय था कि यदि वह यह कहता कि राजा के दर्शन करने आया था तो सम्भवतः बात और उलझ जाती, इसलिए उसने कहा " यूँ ही।"

उन व्यक्तियों ने पूछ-तलब बन्द कर दी, वे आपस में एक-दूसरे को देखने लगे। वे चुप हो ये पूछते लगते थे कि अब क्या किया जाय ? पर इतने में भीड़ में से दो-चार आदमियों ने एक साथ पूछा "तुम हो कौन ?"

"मैं···मैं···" अग्निवर्मा हकलाकर रह गया।

"यवन मालूम होता है, रुद्रदमन भी यवन है, नासिक की तरफ से आया है।" भीड़ उबलने-सी लगी।

"यवन हो ?"

"हैं, हाँ; हाँ···अग्निवर्मा हड़बड़ाने लगा।

"हो न हो यह रुद्रदमन का भेदिया है, उसे भेद पहुँचाता है, बनाओ इसकी गत।" एक ने कहा। और तुरन्त अग्निवर्मा पर उसने मिट्टी उछाली। फिर क्या था किसी ने उस पर पत्थर मारा, किसी ने चप्पल फेंकी, किसी ने कुछ, किसी ने कुछ। और वह जान बचाकर भागा।

लोग चिल्लाते उसका पीछा करते जाते थे। पत्थरों की बौछार भी बढ़ती जाती थी। वह नदी के किनारे-किनारे भाग गया। मन्दिरों की आग में से वह जंगल में निकल गया। तब जाकर लोगों ने उसका पीछा छोड़ा।

वह दिन भर कराहता-कराहता, जंगल में पेड़ों के नीचे भूखा-प्यासा पड़ा रहा। उसके अंग-अंग से खून के नाले बह रहे थे। गनीमत थी कि वह ज़िन्दा था। धन्यकटक ने भी उसकी वही मरम्मत की जो एक दिन नासिक ने की थी। पर भिन्न-भिन्न कारणों के लिए।

———

३१

दो-चार दिन बाद वह भटकता-भटकता लुका-छुपा ग्राम पहुँचा। घावों से खून बह-बहकर जम गया था। जोड़ों में दर्द हो रहा था। बुरी हालत थी।

वह सतर्क हो ग्राम के निकट पहुँचा। पनघट पर औरतें थीं। संयोगवश उसी के बारे में बात-चीत हो रही थी।…"हमने कल्पना भी न की थी कि यह भेदिया होगा…बड़ा सीधा बनता था। एक स्त्री ने कहा।

"अब पता लगा कि वह क्यों बात-बात पर धन्यकटक हो आता था।"

"किसी से कुछ न कहता, सब की सुनता।"

"अतिथि के रूप में आया है, अतिथि को मारना-पीटना अच्छा नहीं है।"

"इन भेदियों के बावजूद भी हमारे राजा की विजय होगी।"

जितने मुँह उतनी बातें। सारी कड़वी, चुभनेवाली, झूठ। अग्निवर्मा न सुन सका। वह डरता-डरता खेतों में से ग्रामिक के घर की ओर चला। रास्ते में दो-चार परिचित व्यक्तियों को उसने देखा, पर किसी ने उसके साथ बात न की। उसके बात करने पर भी उससे कोई न बोला।

वह ग्रामिक के यहाँ पहुँचा। उन्होंने उसे आसन भी न दिया। उसको दरवाजे के पास खड़ा देख वे तिलमिलाते घर के अन्दर चले गए।

अग्निवर्मा को बात करने की हिम्मत न हुई। वह निराश, भयभीत, वहाँ से चला गया।

ग्राम की गली में से निकला। वह चौराहे पर चिल्लाकर कहना चाहता था—'मैं भेदिया नहीं हूँ। मैं कलाकार हूँ।' परन्तु उसके साहस ने उसका साथ न दिया। वह चुप रह गया।

गाँव में उसे कोई देखता तो रास्ता छोड़कर चला जाता। यहाँ तक कि बच्चे भी नीचे निगाह करके गुनगुनाते चले जाते। ग्रामवासी उसका बहिष्कार कर रहे थे। सम्भवतः ग्रामिक की आज्ञा थी। उसको अपने घर के पास दो सैनिक दिखाई दिए। वह घबरा गया; उन्होंने भी उससे कुछ न कहा। वे केवल अट्टहास करके रह गए।

अग्निवर्मा घर पहुँचा। किवाड़ बन्द थे। शाम का समय था। उसका माथा ठनका। कहीं पुष्पवल्ली को तो कैद करके नहीं ले गए हैं। लड़की का क्या हुआ होगा? वह कहाँ है? क्या उसका तुरन्त अन्दर जाना अच्छा है? वह खड़ा रहा।

इतने में किवाड़ खोलकर वह मूँछोंवाला व्यक्ति निकला। वह उस समय राजकर्मचारी की वेशभूषा में था। अग्निवर्मा उसे न जानता था इसलिए उसे पहिचान भी न पाया। यह वह अनुमान कर सकता था कि वे उसे पकड़ने के लिए ही आये होंगे। उसके साथ पुष्पवल्ली हँस-हँस कर बात कर रही थी। वह कर्मचारी भी मुस्करा रहा था। जाते-जाते उसने पुष्पवल्ली के गाल नोंच लिए। अग्निवर्मा यह जान गया कि किवाड़ क्यों बन्द थे।

वह पागल की भाँति अन्धाधुन्ध भागने लगा। चिल्लाने लगा। पर पास के सिपाहियों ने उसे ज़ोर से पकड़ लिया। उसे जाने न दिया। दो-चार जमा भी दिए। वे घसीट-घसीटकर उसको उसके घर के पास ले गए।

कर्मचारी ने फाटक पर खड़े होकर सैनिकों को संकेत किया—"छोड़ दो।" वह मुस्कराता मूँछे ऐंठता-ऐंठता बड़े-बड़े कदम रखता हुआ चला

गया। सैनिक अग्निवर्मा को घर में छोड़ बाहर से फाटक बन्द करते गए।

पुष्पवल्ली उसको देख सहसा आँसू बहाने लगी। उनकी लड़की एक कोने में गुदड़ियों में पड़ी रो रही थी। अग्निवर्मा क्रोध से काँप रहा था। भगवान् जाने उसने अपने को कैसे काबू में कर रखा था।

"वे तुम्हें पकड़ने आए थे। तुम्हें भेदिया समझ रहे थे। जाने क्या-क्या करते ? मुझे माफ कर दो।"

अग्निवर्मा मुँह मोड़कर खड़ा हो गया। दाँत कटकटा रहा था।

"मैं नहीं चाहती थी कि तुम जेल में डाल दिए जाओ। और तुम्हारा कलाकार का जीवन खिलने से पहिले ही कुचल दिया जाए। मेरे पास और कोई रास्ता न था। एक स्त्री कर भी क्या सकती है। मुझे बड़ी कीमत देनी पड़ी। पर तुम स्वतन्त्र हो। भगवान् भला करे।" पुष्पवल्ली बिलखती जाती थी, "मैं एक ही चीज़ जानती हूँ, उस कामुक से मैंने तुम्हारी स्वतन्त्रता खरीद ली।"

"चुप रहो, आखिर वेश्या हो न।"

"मैंने वही किया है जो मेरी समझ में आदर्श पत्नी करती है। दुनिया कुछ भी समझे...मैंने जो कुछ किया है तुम्हारे लिए किया है।"

"शर्म नहीं आती, आदर्श पत्नियाँ अपने को बेचती नहीं फिरती हैं। फिर मैंने तुम से शादी कब की है ?" अग्निवर्मा कह ही रहा था कि पुष्पवल्ली बेहोश हो गिर गई। वह बहुत देर तक बेहोश पड़ी रही। आखिर अग्निवर्मा इतना क्रूर न हो सका कि एक बेहोश औरत के मुँह पर पानी भी न छिड़के।

रात भर दोनों अलग-अलग पड़े रहे। न अग्निवर्मा बोला, न पुष्पवल्ली ही। बीच में लड़की पड़ी-पड़ी ज़ोर-ज़ोर से रो रही थी। उसकी किसी को परवाह न थी।

सवेरे अग्निवर्मा नित्य कृत्य से निवृत्त होने गया। वह वापिस घर न आया। जंगल में से वह कहीं चला गया। पुष्पवल्ली उसकी प्रतीक्षा करती रही।

३२

अग्निवर्मा का कोई रास्ता न था। कोई उद्देश्य न था, कोई गम्यस्थान न था। वह चलता जाता था, ग्रामों से दूर, जनपथों से दूर, राज-कर्मचारियों से दूर, जनता से दूर। घर, घरवाली, लड़की, सब उसको भग्न मूर्ति की तरह लग रहे थे।

स्वर्गीय माता-पिता उसको आशीर्वाद देते से लगते। सौराष्ट्र, दुर्भिक्ष, नासिक एक लम्बा अध्याय जो अचानक दुखान्त हो गया था—सब याद आए। मैत्रेयी की आँखें उसको घूरती प्रतीत होती थीं। क्या मैत्रेयी वही करती जो पुष्पवल्ली ने किया ? जघन्य, नीच कृत्य।

वह कहाँ है ? कीर्तिवान नेउसका क्या किया होगा ? क्या वह अब भी उसके साथ होगी ? या वह भी उसकी तरह दर-दर भटक रही होगी ? नहीं, मैं साहसी नहीं हूँ, मुझे तभी विरोध करना चाहिए था। मैंने घोड़े की तरह भागना सीखा है। भागता जाता हूँ, लगाम भी मेरे हाथ में नहीं है। उसे ऐसा लगा जैसे अन्तर की अग्नि ओठों पर को जला रही हो, वह होठ खोलकर हाँफने लगा, चल भी न पाता, एक पेड़ के नीचे बैठ गया।

कटहल का पेड़, ग्रामिक, बछड़ा, छोटी-सी कुटिया, नीम का पेड़, वृद्ध, मृत वृद्ध, पितृ-तुल्य वृद्ध, मन्दिर, मूर्तियाँ, कितनी ही चीजें उसके सामने चक्कर काट रही थीं। ग्रामिक की भव्य मूर्ति, उसकी कृपा से जीवन का दूसरा अध्याय खुला, और वह भी दुखान्त हुआ। अग्निवर्मा

अपने ही विचारों से दूर होना चाहता था। वह उठकर फिर चलने लगा। चरते मृग की तरह।

मन्दिर बना, मूर्तियाँ बनीं, अब कुछ नहीं है। अव्यक्त भाव व्यक्त हुए, साकार हुए, फिर अव्यक्त हो गए, परिश्रम का फल व्यर्थ, काम कोई करता है, श्रेय किसी और को मिलता है, धनंजय, कीर्तिवान,... वह यकायक रुक गया।

नहीं, यह नहीं होगा, भगवान् सबको देखते हैं। हर जीवन का उद्देश्य है, जीवन स्वतः फूल की तरह खिलता जाता है, निश्चित आकार में, निश्चित मौसम में, कुम्हला जाता है, ओले, ओस, भौंरे, माली, मन्दिर, सब का अपना-अपना समय है, सब ठीक होगा, उसने लम्बी साँस लेकर सीना तान दिया।

फिर सहसा उसका सिर नीचा हो गया। और विचारों की उथल-पुथल जारी रही।

नहीं मैं पापी हूँ, भुगतना ही होगा। मैत्रेयी को मुझ पर विश्वास था,···उसे छोड़ दिया, बुढ़िया, ने मुझे पुत्र-तुल्य समझा, मैं उसको भी धोखा देकर चला आया, बेचारी कहाँ होगी ? क्या वह भी धन्यकटक पहुँच गई है ? नहीं, पुष्पवल्ली नहीं, उसका नाम न लूँगा, पर बेचारी लड़की ने क्या किया है ? उसको छोड़ने का मुझे क्या अधिकार है ? नहीं, नहीं, वह लड़खड़ाता-लड़खड़ाता बैठ गया। पास ही कल-कल करता कोई नाला मतवाला हो बह रहा था······बहाव को रोकता, वह नाले के किनारे एक पेड़ के नीचे लेट गया। थोड़ी देर बाद उसकी आँख लग गई। नाला बहता जाता था पर उसकी कल-कल ध्वनि उसके कानों तक न पहुँचती थी। शायद उसके विचार भी मूक थे।

जब वह उठा तो सूरज ढल चुका था। उस जंगल में अन्धेरा-सा लगता था। सारा स्थल अपरिचित था। पर वह भयभीत न था। वह निश्चिन्त दिखाई पड़ता था।

वह जल्दी-जल्दी कृष्णा नदी की ओर चलने लगा। नदी का पाट वहाँ बड़ा न था। दो छोटे-छोटे पहाड़ों के बीच में से बहती थी, वह जानता था कि नदी-पार श्रीपर्वत की शृंखला थी, जहाँ कई साधु-संन्यासी रहा करते थे। जहाँ आश्रम थे, विद्यालय थे। जहाँ न युद्ध की सरगर्मी पहुँचती थी, न शान्ति की निष्क्रियता···एक अलग संसार था

नदी में पानी कम था। कहीं-कहीं छोटे-छोटे द्वीप बन गये थे। बड़े-बड़े पत्थर, नदी पत्थरों को दुलारती-सी बह रही थी। वह नदी में उतर गया। उसकी आँखें नदी-पार श्रीपर्वत पर गड़ी थीं, चपटी, मोटी रस्सी की तरह वह शृंखला ऊँची-नीची होती दक्षिण-पश्चिम की ओर गई।

जहाँ तक चल सका, चलता गया, और जब वह न चल सका तो वह तैरता गया। द्वीप में विश्राम लेता, फिर तैरता, नदी का पानी उसके घावों को भरता-सा लगता था।

नदी पार करके वह बहुत देर तक पेड़ों के नीचे विश्राम करता रहा, उसे लग रहा था जैसे कोई विकट खाई पार कर वह सुरक्षित दुर्ग में पहुँच गया हो जहाँ उसे भय न था, यद्यपि एकान्त में वह एकाकी था।

वह जानता था कि वह प्रान्त भी सातवाहन के अन्तर्गत था, पर धन्यकटक नदी के उस पार था। युद्ध का ज़ोर भी उसी तरह अधिक था। निश्चिन्त था, पत्थर तो किसी का पीछा नहीं करते। वह निर्जन प्रान्त में ही रहना चाहता था।

शाम को वह खोजता-खोजता एक ऐसे प्रान्त में पहुँचा, जहाँ पहाड़ कुछ ऊँचा हो गया था। चोटी पर उसको समतल भूमि दिखाई दी, एक तरफ लम्बी लाल मिट्टी की घाटी थी, उसमें कहीं-कहीं दो-चार गाँव दिखाई देते थे, और दूसरी तरफ नील गम्भीर कृष्णा। उसे जगह पसन्द आई। खोजने पर उसको एक खोह मिल गया। वह बहुत गहरी न थी, उसमें कोई जन्तु जानवर भी न था। एक बड़ा पत्थर अपने स्थान से

लुढ़क गया था । खाली स्थान रह गया था । उस पर घास, वनस्पतियाँ उग आई थी । और थोड़ी दूर हटकर वही पत्थर पड़ा था, पहरा देता-सा ।

अग्निवर्मा उसी के अन्दर चला गया, जगह साफ कर वहीं आँखें मींचकर लेट गया ।

३३

वह छोटी-सी खोह अग्निवर्मा को आश्रय दिये हुए थी, धूप-पानी से बचा रही थी। धन्यकटक जाने की प्रबल इच्छा बुलबुलाकर कहीं घुल गई थी। उसकी अँगुलियाँ अब भी काम के लिए तड़पतीं। निष्क्रिय शरीर का मन सहसा अधिक सक्रिय हो जाता है।

वह चिन्तक था नहीं कि पारलौकिक, आधिभौतिक तथ्यों पर विचार करता। इच्छा से विरक्त भी न हुआ था। जवानी का उफान भी उबलते दूध की तरह है जो पानी के छिड़कने से दो क्षण शान्त हो जाता है और फिर यथापूर्व उबलने लगता है।

और कुछ सोच न पाता इसलिए उसकी ज़िन्दगी ही जो न लम्बी थी न बहुत घटनामय थी, पर उसकी थी, उसने वही देखी थी, निरन्तर उसके सामने आती-जाती। वह अपने को काम में लगाना चाहता। पर काम के लिए आवश्यक उपकरण न थे। वह इधर-उधर कन्द-मूल की खोज में जंगल में भटकता।

वह क्षीण काय हो गया था। वस्त्र जर्जर हो चुके थे, सिर्फ कौपीन रह गया था।

कभी-कभी वह नीचे गाँवों में जाने की सोचता पर भय के कारण रह जाता। उसे अब भी ऐसा लग रहा था मानो राज्य के कर्मचारी उसका पीछा कर रहे हों, भले ही कपड़े न हों पर उसके शरीर की बनावट, रंग वगैरह भी तो भिन्न था। भाषा भी ठीक तरह नहीं जानता था।

शरत काल। एक दिन पहाड़ की चोटी पर समतल स्थल पर वह बैठा था। सूर्य की किरणें उसके शरीर को सेकती-सी लगती थीं। वह नीचे देख रहा था। गाँवों में खलबली-सी मची हुई थी, पीले-पीले बड़े-बड़े झंडों को लेकर भीड़ एकत्रित हो रही थी। दूर-दूर से लोग पहाड़ी रास्तों से जलूस बना-बनाकर आ रहे थे। बाजे-गाजे, नगाड़े बज रहे थे। सारी घाटी भिन्न-भिन्न ध्वनि से प्रतिध्वनित हो रही थी; समीपस्थ कृष्णा भी चुपचाप इस प्रतिध्वनी को सुनती लगती थी।

शायद कोई मेला लग रहा था, या उत्सव हो रहा था। ज्यों-ज्यों सूरज चढ़ता जाता था त्यों-त्यों उत्सव का रंग बदलता जाता था, भीड़ भी अधिक होती जाती थी। अग्निवर्मा वहाँ जाने के लिए लालायित होने लगा, दो-चार बार उतरा भी फिर वापिस लौट आया।

आखिर हिम्मत बाँधकर वह पहाड़ी से नीचे उतर गया। अपरिचित प्रदेश, उत्सव, दूर-दूर के ग्रामीण वे उसे क्या पहिचानेंगे? कितने ही साधु भीड़ में थे, वे भी उसे एक साधु समझेंगे, वह अपने को इस तरह धैर्य बँधा रहा था।

खोह में पड़े-पड़े कई दिन हो गए थे। कितनी ही बार चाँद अपनी पूर्ण कान्ति से चमका फिर घटता गया, पर शायद यह दिखाने के लिए कि वह गिरता-गिरता बढ़ भी सकता है, वह बढ़ता, दिन बीतते जाते। जंगली जानवर भी जंगल से ऊबकर कभी जनपद का चक्कर लगा ही आते हैं। अग्निवर्मा ने अपने आप कहा।

उतरते-उतरते वह भी रास्ते पर आ गया। रास्ते पर लोगों का ताँता लगा था। उनकी बात-चीत से पता लगा कि बौद्धों का कोई उत्सव शुरू हुआ था, और उसमें सम्मिलित होने के लिए देश-देशान्तर से लोग आ रहे थे। अग्निवर्मा ने सन्तोष की साँस ली। उस वातावरण में उस पर सन्देह करने वाले कम ही होते।

लोग उसकी तरफ लगातार देख रहे थे। चलते-चलते वे उसको पीछे मुड़कर देखते। पर उनकी नज़र में सन्देह न था। भक्ति-सी

थी। उसको वे शायद दिगम्बर संन्यासी समझ रहे थे, किन्तु अग्निवर्मा को इसका भान न था। वह इससे सन्तुष्ट था कि वे उस पर व्यर्थ शक नहीं कर रहे थे।

वह भी घाटी में पहुँचा, भीड़ में शामिल हो गया। बड़ा शामियाना लगा हुआ था। अन्दर एक छोटा-सा स्तूप था। उसके चारों ओर पीताम्बरधारी भिक्षु बैठे थे, कुछ पढ़ा जा रहा था, और बाहर लोग संगीत के साथ नृत्य-विनोद कर रहे थे। अग्निवर्मा नृत्य देखता वहीं खड़ा रहा। वह जनता का एक अंग हो गया था।

सूर्यास्त हो गया, अँधेरा हो गया, भीड़ कम होने लगी। यात्रियों के रहने के लिए कोई विशेष प्रबन्ध न था। कई पेड़ों के नीचे विश्राम कर रहे थे। कई घरों में थे। गाँव का कोई घर खाली न था। धर्मशाला भी खचाखच भरी थी। अग्निवर्मा ने अपनी खोह को वापिस न जाना चाहा। वह उत्सव में मस्त था, वह दूर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। वहाँ भी कई लेटे हुए थे। उसके लिए उन्होंने जगह छोड़ दी। वे शायद उसको कोई भिक्षु समझ रहे थे।

अगले दिन वह सवेरे-सवेरे उठा, उत्सव का कार्यक्रम शुरू हो चुका था। अग्निवर्मा ग्राम देखने निकला। छोटा गाँव था, किसानों का गाँव भी न था, पाँच-दस मकान ही उनके लगते थे। कई मकानों में कई नवयुवक थे। शायद वे विद्यार्थी थे। स्त्रियाँ भी कम थीं।

गाँव के बाहर दो-तीन मकान थे, टूटे-फूटे, उसके बाद एक छोटा-सा बाग था। वहाँ भी लोगों का जमघट था। उन मकानों में बढ़ई-लुहार रहा करते थे। एक लुहार बाहर काम कर रहा था।

अग्निवर्मा के मन में कोई बात यकायक कौंधी। उसने निश्चय कर लिया और अपनी टूटी-फूटी भाषा में उसने लुहार से कुछ कहा भी। थोड़ी देर बाद वह हथौड़े चला रहा था। कभी धौंकनी चलाता तो कभी लुहार की कुछ और सहायता करता।

उसको काम करता देख भीड़ घर के चारों ओर इकट्ठी हो गई। उत्सुकता से उसे देखने लगी। कोई कहता, "सिद्ध पुरुष जान पड़ता है, लुहार के यहाँ काम कर रोजी कमा रहा है।"

"सिद्ध पुरुषों का क्या कहना ? वे सब कुछ करते हैं, सब कुछ कर सकना भी एक तपस्या है।" दूसरा कहता। अग्निवर्मा मौन हो अपना काम करता जाता। अन्दर ही अन्दर मुस्कराता।

———

३४

कुछ दिनों तक अग्निवर्मा लुहार के पास काम करता रहा। पेट भर जाता था। उत्सव खतम हो चुका था। काम जरूर कम हुआ था पर तब भी दो आदमियों के लिए गाँव में काफ़ी काम था।

वह उस गाँव में और कई दिन रह सकता था। युद्ध जारी था, दो-तीन जगह यज्ञश्री की जीत हुई थी, रुद्रदमन भी एक जगह जीता था, किन्तु वह पीछे हटता जाता था। गाँव में युद्ध की खबरें कभी-कभी मिलती थीं। इसलिए अग्निवर्मा वहाँ न रहना चाहता था। वह छेनियाँ लेकर फिर पहाड़ पर चढ़ गया। शरद् ऋतु समाप्त हो चुकी थी, और अग्निवर्मा ने अपने लिए दो-तीन छेनियाँ कमा ली थीं।

खोह में घास बढ़ गई थी, पर वह सुरक्षित थी। उसको बढ़ाने के लिए वह कार्य में संलग्न हो गया। छेनी चलती जाती, हथौड़ा भी खाली न रहता, बड़े-बड़े पत्थर चूर्ण होते जाते थे। खोह एक गुफा बनती जाती थी। उसे न अब युद्ध के बारे में सोचने का समय था, न राजकर्मचारियों के बारे में ही। भूत भी कहीं दूर जाता लगता था।

गाँव के आदमियों को उसको रहने की जगह मालूम हो गई थी। कितने ही साधु-संन्यासी उन पहाड़ों में रहते थे। वह भी एक साधु समझा जाने लगा। कभी कोई उसे देखने आ जाता तो दो-चार फल खाने की सामग्री भी भेंट कर जाता। कन्द-मूल तो मिलते ही थे वह उन्हीं पर गुजारा करता था। उसका मौन व्रत जारी था। यद्यपि वह कभी-कभी रात की शून्यता में कोई गीत गुनगुना लेता।

गुफा की दीवारें चमक उठी थीं, सूर्य की रश्मियाँ दूर-दूर तक जाती थीं, एक घर अन्दर बन गया था। ऊपर पत्थर, बगल में पत्थर, नीचे पत्थर, अग्निवर्मा उसमें इस तरह रहता जैसे कि जनसंकुल नगर में रह रहा हो, उसको दीवारों पर जनसमूह जलूस में निकलता दीखता। गगन-चुम्बी मन्दिर, विशाल अट्टालिकाएँ भिन्न-भिन्न मुँह, भिन्न-भिन्न भंगिमाएँ, सब अव्यक्त, अस्पष्ट, वह अब किसी चीज को किसी रूप में देखता फिर थोड़ी देर बाद उसको किसी और रूप में।

गुफा की दीवारों पर विशाल पत्थर में से वह विचित्र-विचित्र मूर्तियाँ गढ़ने लगा, काम चलता जाता था, काल भी चौकड़ी भरता जाता था। महीनों गुजर गए, दीवार पर एक सुन्दर लड़की की मूर्ति रेंगती हुई उसने बनाई। वह किसी के पैर छूती लगती थी, सुन्दर पैर, मुलायम पैर, किसी लजीली कन्या के पैर। लड़की का आकार वही था जो उसकी लड़की का था। कन्या की मूर्ति बन रही थी। पैर ऊपर की ओर, अग्निवर्मा उसे गढ़ता जाता था।

उन दिनों एक विचित्र घटना घटी। वह प्रायः अशान्त-सा रहता। दिन भर काम करता। और रात को सो भी न पाता। पक्षी हरे-भरे पेड़ों पर बैठे वसन्तोत्सव मनाते लगते थे। सब जगह हरियाली थी। वह उसी जगह, उसी ऋतु में पहिले आराम से रह चुका था, पर अब वह यकायक चंचल-सा हो उठा। मानो कोई चीज उसे खींच रही हो। और वह अपने को बाँधे बैठा हो।

एक दिन उसकी गुफा के सामने से कोई स्त्री इंधन चुनती-चुनती निकली। प्रौढ़ा थी। शक्ल-सूरत भी न थी। वह उत्सुक हो उसका काम देखने लगी। अग्निवर्मा अपने को काबू में न रख सका। वह स्त्री चीखी-चिल्लाई। पर उसकी कोई मदद करने वाला न था। फिर मुस्कराती-मुस्कराती कपड़े झाड़कर खड़ी हो गई। कोई नीच जात की निर्धन स्त्री थी।

स्त्री चली गई। किन्तु अग्निवर्मा गुफा में न रह सका। उसे लगा

जैसे ग्राम के बूढ़े-वुजुर्ग लाठी-डण्डे लेकर उस पर हमला करने आ रहे हों। वह पास ही एक और गुफा में छुप गया। दो दिन बीत गए। तीन दिन बीत गए। कोई नहीं आया, वह कुछ निश्चिन्त-सा हो गया, भय भी जाता रहा।

तीन-चार दिन बाद वही स्त्री अकेली गुफा में आई। उससे खेल-खिलवाड़ करने लगी। उसके लिए वह खाने-पीने के लिए भी कुछ ले आई थी। अग्निवर्मा चकित था, उसने सोचा कि भाग्य उसका साथ दे रहा है। पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि वह एक विधवा है, ईंधन बेचकर अपना जीवन-निर्वाह कर रही है।

जब कभी वह आती अग्निवर्मा विनोद कर लेता। वही होता जो पहिले दिन हुआ था, वह काम में भी अधिक दिलचस्पी लेने लगा, पर होते-होते वह उस स्त्री से भी विमुख होने लगा, उसका आना-जाना जरा बढ़ रहा था। वह चिन्तित होने लगा था।

वह मूर्ति जो पैरों से शुरू हुई थी बढ़ते-बढ़ते मुँह तक आ गई थी। सुगढ़ पैर, स्थूल नितम्ब, क्षीण कटि प्रदेश, पीन पयोधर, यौवन की मूर्ति लगती थी। मुँह भी ठीक मैत्रेयी का था। वह आकृति जो सालों जम-जम कर उसके मन में स्मृति हो गई थी, उसकी सृजन-शक्ति के कारण रूप ले रही थी। वह जिसे पा न सका उसे परिश्रम से बना रहा था। असफल प्रयत्न को सफल स्वप्न का स्वरूप दे रहा था।

मूर्ति खतम हुई, उसी की बगल में एक और मूर्ति बनने लगी। जैसे प्रथम मूर्ति का ही कोई भाग हो, नत मस्तक, शिथिल, झुर्रियों वाला चेहरा, धँसी आँखें, झुके कन्धे, दुर्बल, जरा-जर्जर, लाठी टेके, चीथड़ों में अपनी लज्जा ढाँपे। उसकी आकृति उस बुढ़िया से मिलती थी जिसको वह छोड़ आया था, जिसने उसको माता का वात्सल्य दिया था पर जिसका वह विश्वासघात कर आया था।

फिर उसकी बगल में बच्चे के धरातल पर एक चट्टान-सी उसने

बना दी। जीवन के चार मुख्य अंशों को, काल की चार प्रक्रियाओं को उसने मूर्तिबद्ध कर दिया।···बाल्य, यौवन, वार्धक्य, मृत्यु।

यह उसकी पहली रचना थी जो किसी अप्रत्यक्ष देवता की मूर्ति न थी, न किसी खाके का प्रस्तर रूप ही था, उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव को कला की भौतिक भाषा में व्यक्त किया था, उसे ऐसा लग रहा था मानो उसके मन पर से मनों पत्थर हटा दिया गया हो।

जिस दिन वह मूर्ति खतम हुई वह कृष्णा नदी में घण्टों नहाता रहा, दिन भर पागल की तरह मस्त पड़ा रहा।

३५

एक दिन समस्थल पर बैठा अग्निवर्मा विश्राम कर रहा था। घाटी में फिर चहल-पहल थी। बाजे-गाजे नहीं बज रहे थे। पगडंडियों से यात्री नहीं आ रहे थे। साधु भिक्षुओं का जमघट भी न था। मौसम अच्छा था।

पूर्व की ओर से एक चौड़े पथ पर, जो पहाड़ को मेखला की तरह लपेटे हुए था, कई घुड़सवार चले आते थे। उनके बाद सजे-धजे हाथी, फिर पालकियाँ, कई पदाती, पूरी सेना की सेना कवायद करती आती नज़र आती थी।

उत्सुकतापूर्वक अग्निवर्मा उस ओर देख रहा था। उनके साज-सामान से सहज अनुमान किया जा सकता था कि कोई राजा-रईस सपरिवार चला आ रहा था। वह कहाँ जा रहा था? गाँव में उस जैसे रईस का क्या काम होगा? यह रईस या राजा कौन हो सकता है? यह रास्ता कहाँ जाता है? उसका कुतूहल प्रश्नों को मथता जाता था।

तीन तरफ की दीवारें गुफा में बाकी थीं, वह उन्हें भी चित्रित करना चाहता था, कई भाव मन में उमड़ रहे थे, नया काम शुरू करने से पहिले वह कुछ काल तक आराम करना चाहता था।

उसके देखते-देखते वह जलूस गाँव में पहुँचा। और गाँव से बाहर निकलकर एक पहाड़ी की तराई पर गया, और वहाँ के हरे पेड़ों के झुरमुट में वह लुप्त-सा हो गया। कोई न दिखाई दिया। उस जगह के पास वह उत्सव मनाया गया था।

उत्सुकता बढ़ती जाती थी, देखने का उत्साह भी। पर नीचे जाने का साहस उसमें न था, लोगों के ठाट-बाट से लगता था कि कहीं वे राज-कर्मचारी न हों, जाने युद्ध ने कैसी करवट बदली हो, कौन राजा हो? कहीं वे पकड़ न लें? इसी हिचकिचाहट में वह वहीं पड़ा रहा।

निर्जन स्थल था, कभी कोई भूला-भटका ही वहाँ पहुँचता था। कोई आने-जाने वाला था नहीं कि समाचार मालूम करता। उसके लिए समय कदाचित् निश्चल था। वह विधवा महीने में एक-दो बार जरूर आती पर वह जानती-पहिचानती कम ही थी।

उत्सुकता बढ़ती तो गई पर उसको उसने लगाम में रखा। वह मैदान से उठकर चला गया। काफ़ी देर तक गुफा में बैठा रहा। फिर वह कुछ डर-सा गया। और पास वाले आश्रम स्थल में चला गया, जब कभी वह अपने को छुपाना चाहता, वहीं जा बैठता।

कभी-कभी उसको पुष्पवल्ली की बात याद आती, "मूर्तियाँ अरण्य पुष्प नहीं होतीं···" वह उसको भूलने की कोशिश करता। बहुत समय हो गया था, पर वह पुष्पवल्ली को क्षमा न कर पाता था। एकान्त में उसको वह भूल भी न पाता था। लड़की की याद उसे अक्सर आती।

दो दिन बाद वह विधवा लुकी-छुपी आई। इस बार उसके कपड़े नये थे, चेहरे पर एक प्रकार का उल्लास था, वह अकिंचनता न थी, इससे पहिले कि अग्निवर्मा कुछ बोलता, वह उत्साहवश बोल उठी। "गाँव में राजा आए हैं।"

"कौन राजा?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"यज्ञश्री सप्तकर्णी···धन्यकटकाधीश।"

"क्यों आए हैं?"

"युद्ध में उनकी विजय हुई है।···सुनते हैं राजधानी में विजयोत्सव बड़े जोर-शोर से मनाया जा रहा है, यहाँ से कई विद्यार्थी वहाँ गए हैं।"

"वे यहाँ क्यों आए हैं?"

"मैं क्या जानूँ ? जो सुना है बता रही हूँ, शायद गुरु के दर्शन करने आए हैं।"

"उनके गुरु कौन हैं ?"

"नाम तो नहीं जानती, कोई बड़े भिक्षु हैं, उनके बड़े शिष्य हैं, दूर-दूर से लोग उनको देखने आते हैं। तुम नहीं जानते ?"

"नहीं तो, कहाँ रहते हैं वे ?

"गाँव की परली तरफ़, बगीचे के बाद, पहाड़ की तलहटी में।"

"हूँ," अग्निवर्मा के मन में सहसा जलूस का वह चित्र आ गया।" "तो युद्ध समाप्त हो गया है ?"

"हाँ, हाँ, देखो ये नये कपड़े, सबको नये कपड़े बाँटे जा रहे हैं। हमें तीन दिन से भोजन भी दिया जा रहा है। कितनों ही को खिताब, सनद, ज़मीन-जागीर दी जा रही है, मैं क्या जानूं ? जो सुना है, कह रही हूँ।···मैं तुम्हारे लिए भी खाना लाई हूँ।"

"तो यानी युद्ध खतम हो गया है ?" उसने सिर हिलाते हुए फिर पूछा, जैसे एक बार पूछना और जानना काफ़ी न हो।

"हाँ, कहा न ?"

अग्निवर्मा का मन बल्लियों उछलने लगा। उस विधवा को बाहु-पाश में डालकर वह चिल्लाया—"अब यह वनवास समाप्त हुआ।" वह विधवा कुछ समझ न पाई, वह उसकी ओर आश्चर्य से देख रही थी।

३६

वर्षा ऋतु थी। इस वर्ष और वर्षों की अपेक्षा अधिक वर्षा हो रही थी। कृष्णा का नीला पानी भी मटमैला हो गया था, बड़ी-बड़ी तरंगें उठ रही थीं। नदी का पाट भी चौड़ा हो गया था। बाढ़ आ रही थी।

गुफा के दूसरी ओर अग्निवर्मा ने मूर्तियों की शृंखला-सी बना दी थी। उछलते-कूदते अश्व चंचल, एक-दूसरे के पैरों से सटे-सटे खड़े थे, कई सिर ऊँचा किए, हिनहिनाते, कई सिर नीचे किए, अश्वों को पत्थरों में उतारना आसान न था। गतिशील अश्वों को बनाना तो असम्भव-प्राय था। पर अग्निवर्मा ने उनको स्वाभाविक रूप दिया था।

अब वह तीसरी ओर कुछ बना रहा था। क्या बना रहा, अभी तक स्पष्ट न था, कोई चित्र-सा था—टीला, टीले पर एकाकी वृक्ष, फिर रिक्त स्थान, ऊपर किसी मन्दिर का अपूर्ण कलश, टीले के नीचे दो झोंपड़े······सब अधूरा था।

यद्यपि वह गुफा छोड़कर वह कहीं जाकर रह सकता था, पर गुफा में उसने महीनों से इतना काम किया था कि आसानी से उसे छोड़ न पाता था। फिर जाता भी तो काम छोड़कर कहाँ जाता? उसने बहुत-सी मूर्तियाँ, मन्दिर वगैरह देखे थे, पर उसका विश्वास था कि जो चीज़ उसने निरन्तर परिश्रम से उस अज्ञात गुफा के दीवारों पर खोदी थी, उसने कहीं और न देखी थी। वह नई चीज़ थी, उसे अधूरा छोड़-कर वह कहीं और न जाना चाहता था।

वह एक दिन नीचे गांव में विश्राम के लिए गया। लोगों के आते-जाते अब झाड़ी-झंखाड़ों में से चलने लायक रास्ता बन गया था। वह गांव पहुँचा, तो वर्षा शुरू हो गई। वह लुहार के घर में घुस गया। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। पास के उद्यान में कई बौद्ध भिक्षु परि-व्राजक पेड़ों के नीचे कांपते-कांपते खड़े थे।

लुहार के घर में एक भिक्षु खड़ा था। वह भी भीगा हुआ था। उम्र कोई अधिक न थी। शरीर पर एक लम्बा पीत वस्त्र था।

"ये लोग किसी घर में क्यों नहीं चले जाते हैं?" अग्निवर्मा ने कुतूहलवश पूछा।

वह भिक्षु कुछ झेंप-सा गया, इस तरह मुंह फेर लिया, मानो मौन व्रत कर रखा हो।

"पेड़ों के नीचे भीगने से क्या फायदा?" अग्निवर्मा ने उत्तर जानने के लिए अपने प्रश्न को एक और रूप में रखा।

"जो घर छोड़कर परिव्राजक भिक्षु बने हैं, वे घरों में कैसे जाएंगे? यहाँ कोई विहार भी नहीं है, जहां भिक्षु-संन्यासी विश्राम कर सकें।"

"पर······अग्निवर्मा ने भिक्षु के भीगे कपड़ों को देखकर कुछ कहना चाहा किन्तु शिष्टाचारवश कह न पाया।

"मैं नियमोल्लंघन कर रहा हूँ।" वह भिक्षु कहता-कहता मुस्करा दिया, "किन्तु यह कोई गृहस्थी का घर नहीं है, लुहार की दुकान है, हम भिक्षु निरन्तर घूमते रहते हैं। वर्षा ऋतु में पर्यटन सम्भव नहीं, इसलिए या तो हम किसी विहार में चले जाते हैं, नहीं तो कहीं भी धूप-पानी से बचने के लिए कोई आवश्यक प्रबन्ध कर लेते हैं।"

"भोजन वगैरह?"

"आप सब जो करते हैं उसी का कुछ भाग हमें भी मिल जाता है।"

"हम जो······अग्निवर्मा सोचने लगा।

"आप भी क्या साधु हैं?" भिक्षु ने उसको ध्यान से देखते हुए

पूछा। कांपीन तो अब वह नहीं पहिनता था पर एक चोगे से अपने को ढाँपे हुए था।

"नहीं तो" अग्निवर्मा हँस दिया। इतने में वर्षा थम गई। अग्निवर्मा अपनी छेनियाँ लेकर जाने लगा। उसने भिक्षु से कहा, "अगर आप चाहें तो मेरे साथ रह सकते हैं। मैं गृहस्थी नहीं हूँ, किसी घर में भी नहीं रहता हूँ।'

"तो आप कहाँ रहते हैं ?"

"पहाड़ी गुफा में। आप चाहें तो आ सकते हैं, पास ही में है।" अग्निवर्मा कहकर चलने लगा।

भिक्षु दो-तीन क्षण सोचता रहा फिर लपककर उसके साथ हो गया।

वे जब गुफा में पहुँचे तो पूरी तरह वर्षा में भीग चुके थे। काँप रहे थे। गुफा के एक कोने में पत्थर के एक विशाल पात्र में धीमे-धीमे आग सुलग रही थी। उसके पास एक पत्थर का आसन था। वह भिक्षु उसी पर बैठ कपड़े सुखाने लगा।

"आपका नाम ?" भिक्षु ने पूछा।

"अग्निवर्मा।"

"आप कलाकार हैं ?"

"क्या कहूँ ? पत्थरों से खिलवाड़ करता हूँ।

"यह खिलवाड़ क्या है ? सारा भारत घूम आया हूँ परन्तु इस तरह की स्वतन्त्र रचना मैंने कहीं न देखी, आप यहाँ के तो नज़र नहीं आते ?"

"नहीं तो।" अग्निवर्मा ने कह तो दिया पर उसे भय होने लगा। उसने प्रसंग बदलते हुए कहा। "कुछ खाइए पीजियेगा ?" वह गुफा में खोज-टटोलकर दो-चार फल ले आया।

"मेरा नाम चेतन है," भिक्षु ने अपना परिचय दिया। "मैं यहाँ आचार्य नागार्जुन के पास शिक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। कभी आप उनसे मिले हैं ?"

"नहीं, तो सुना था कि यहाँ कोई बौद्ध संन्यासी रहते हैं, मैंने देखा नहीं है।"

"वे धुरन्धर विद्वान हैं, बड़े आचार्य हैं, उनकी बराबरी करने वाला इस समय कोई नहीं है। उन्हीं से मिलने परिव्राजक दूर-दूर से आते हैं आपने उन्हें देखा नहीं है ?"

"नहीं तो।"

"बहुत ही दयावान् हैं, राजा उनसे सलाह लेते हैं, अपने को शिष्य मानते हैं, वे भी यहाँ आते हैं, आपने उनको भी नहीं देखा ?"

"नहीं तो......"

"खैर, कलाकार का अपना संसार होता है।"

"क्या कहा आपने ? राजा उनके शिष्य हैं।"

"हाँ।"

"आचार्य ने उनके लिए राजा के कर्त्तव्यों के बारे में पुस्तक लिखी है।"

"अच्छा !" अग्निवर्मा अचरज कर रहा था।

"हाँ, वे भी इस प्रांत के नहीं हैं, विदर्भ के हैं।"

"ब्राह्मण तो नहीं हैं ?"

"थे, अब तो वे बौद्ध धर्मावलम्बी हैं, आचार्य हैं, और बौद्धों के लिए वर्ण-व्यवस्था मान्य नहीं है। वे जात-पाँत के भेद नहीं मानते।

अग्निवर्मा अकस्मात् गुफा की छत पर देखने लगा, मानो कोई नई चीज़ मालूम हुई हो।

———

३७

चेतन कृष्णा नदी में स्नान करने गए हुए थे। अग्निवर्मा गाँव में चला गया। दोनों गुफा में आराम से रह रहे थे।

गाँव में अग्निवर्मा को बताया गया कि कृष्णा नदी में बाढ़ आने के कारण धन्यटकक का कुछ भाग बह गया था। कई मकान गिर गए थे। महल का कुछ अंश भी टूट गया था। हाहाकार मचा हुआ था।

यूँ तो अग्निवर्मा धन्यकटक पहिले भी जाना चाहता था पर अब वहाँ जाने की उसकी इच्छा और भी प्रबल हो उठी। गुफा में उसकी अनुपस्थिति में चेतन उसकी कृतियों की रखवाली कर सकते थे।

वह इतने दिनों बहिष्कृत-सा था। अब युद्ध की समाप्ति होने पर वह नए सिरे से अपना जीवन शुरू करना चाहता था। वह चल पड़ा।

नदी में बाढ़ कम हो चुकी थी पर तब भी पानी काफ़ी था। कई तटवर्ती गाँव नष्ट हो गए थे। फसलें बिगड़ चुकी थीं, रास्ता नदी के किनारे-किनारे नीचे की ओर जाता था। रास्ते में उसको कई भीषण दृश्य दिखाई दिए। अतिवृष्टि के कारण वहाँ अकाल पड़ रहा था। धान पैदा करने वाले किसान दाने-दाने के लिए तरस रहे थे, कितने ही परिवार बे-घरबार हो गए थे, और रोजी की तलाश में धन्यकटक जा रहे थे।

अग्निवर्मा अकेला निकला था पर नदी पार करने के लिए जब वह घाट पर पहुँचा तो उसके साथ कितने ही जीर्ण-शीर्ण निराश्रित,

विपद्‌ग्रस्त व्यक्ति जमा हो गए थे। नदी पार धन्यकटक की अट्टालिकायें उसको बुलाती लगती थीं।

धन्यकटक और उनके बीच नदी थी। उफनाती नदी। नावें कठिनाई से चल रही थीं, कई बह चुकी थीं, और जो चल रही थीं, वे भी अच्छी हालत में न थीं। एक नाव किनारे लगती नहीं कि दसियों एक साथ उसमें कूदते। नाव डाँवाँडोल हो जाती और डूबते-डूबते बचती।

व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती थी, दस पार जाते तो बीस उनकी जगह आ जाते। धक्कम-पेल करते, जैसे-तैसे अग्निवर्मा दूसरे किनारे धन्यकटक में पहुँचा। नाव न डूबी, इसके लिए वह भगवान को दुआ दे रहा था।

धन्यकटक अपरिचित न था वह लम्बे डग रखता मन्दिरों की ओर गया एक मन्दिर के प्रांगण में बाढ़ का पानी जमा पड़ा था। एक मंदिर केवल ईंट-पत्थर का ढेर ही रह गया था। पूरी तरह ढह चुका था।

पुराने मन्दिरों से हटकर एक नया मन्दिर बन रहा था, सैकड़ों आदमी लगे हुए थे। राजा ने उनकी रोजी-मजदूरी के लिए ही मन्दिर बनवाना शुरू किया था। मन्दिर यद्यपि नवीन था तो भी उसकी रचना आकार वगैरह पुराने मन्दिरों की ही तरह थी। अग्निवर्मा उसकी कारीगरी से प्रभावित न था।

घूमता-घूमता वह धन्यकटक शहर की ओर चला, दो-तीन कदम आगे बढ़ाता और पीछे मुड़कर देखता, किसी को पीछा न करता पा वह निश्चित हो आगे चलता। धन्यकटक विजयी राजधानी थी, तो भी उसकी बाह्य शोभा में कोई परिवर्तन न था। नगर की जनसंख्या जरूर बढ़ गई थी। फटे-पुराने कपड़ों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोग फिर रहे थे। कई ऐसे भी थे जो रुद्रदमन के राज्य से आये थे।

परदेशियों को देखकर अग्निवर्मा को ढाढ़स हुआ। वह निर्भय हो विशाल प्रासाद का चक्कर लगा आया। कोने-कोने पर, ड्योढ़ी-ड्योढ़ी

पर प्रहरी थे, वह प्रासाद के अन्दर.जाने का साहस न कर पाया। यद्यपि उसके कानों में उस बुढ़िया के आखिरी वाक्य गूंज रहे थे।

वह शहर देखता-देखता पहाड़ी पर चला गया। पहाड़ी न बदली थी। नीचे तलहटी में कोई मन्दिर बन रहा था। उसके पास एक इमारत बन चुकी थी।

इमारत धर्मशाला की थी, और कितने ही उसमें रह रहे थे। नगर के सभी द्वारों के समीप बड़ी-बड़ी धर्मशालाएँ थीं। यह एक ऐसी धर्मशाला थी जिसके पास कोई द्वार न था। पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि वह राजा की बनवाई हुई धर्मशाला न थी। नगर के कुछ रईसों ने आपस में चन्दा करके उसे बनवाया था। वे भी अपनी तरफ से बेरोजगारों की इस तरह मदद कर रहे थे।

वह मन्दिर के पास गया। मन्दिर में काम हो रहा था। मन्दिर ठीक उसी तरह का था जिस तरह उसने सालों पहले उजड़े प्रतिष्ठान में देखा था। वह अचरज करने लगा। जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाकर वह मन्दिर के आगे-पीछे देखने लगा।

उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने कीर्तिवान को भी वहाँ मज़दूरों से काम करवाते देखा। उसने सोचा कि नज़र बचाकर निकल जाए पर कीर्तिवान ने उसको देख लिया, "अरे भाई, पृथ्वी गोल है। यहाँ भी तुम्हारे दर्शन हो गए!" कीर्तिवान ने सहृदयता का अभिनय किया। अग्निवर्मा उसको तिरछी नज़र से देखता चुप रहा।

"क्या कर रहे हो? काम-धंधा चाहते हो? आ जाओ। मैंने बहुत से मन्दिर बनवाए हैं, यहाँ के रईसों ने बुलवाया है।" कीर्तिवान ज़ोर-ज़ोर से कह रहा था।

"सब इसी तरह के मन्दिर बनवाए होंगे?" अग्निवर्मा ने पूछा। कीर्तिवान आहत-सा उसकी ओर घूरने लगा। "शायद किसी मन्दिर में प्रतिष्ठान के पत्थर भी चिनवा दिए होंगे।" अग्निवर्मा ने उसके घाव पर नमक छिड़का।

"रस्सी जल गई पर बल न टूटा !" कीर्तिवान् ने ताना मारा।

"जली रस्सी के भी बल नहीं टूटते हैं, और अभी तो यह रस्सी जली भी नहीं है।" अग्निवर्मा कहता-कहता जाने लगा।

"तुम्हारी मैत्रेयी भी यहाँ है।" कीर्तिवान ने चोट मारते हुए कहा।

"कहाँ ?"

"वहीं जहाँ उस जैसी स्त्रियाँ होती हैं।"

अग्निवर्मा पर बिजली-सी गिर पड़ी। वह कुछ समझ न पाया। वह सोचने लगा। हृदय के अतीत के तह में से कितनी ही बातें एक साथ घंटा रव करने लगीं।

३८

अग्निवर्मा रात को सो न सका। धन्यकटक की गलियों में घूमता रहा। पश्चिमी ड्योढ़ी के पास सिपाहियों के घर थे। वहीं वेश्यालय भी था। अग्निवर्मा वहाँ गया। बाहर दरबान से पूछा। कुछ न मालूम हुआ। सड़क के उस पार से वह झरोखों को देखता रहा। उसे कहीं मैत्रेयी न दिखाई दी।

वेश्यालय बड़ा था। विशेषतः सैनिक वहाँ आया-जाया करते थे, पहरे का भी बन्दोबस्त था, उनमें वे ही स्त्रियाँ प्रायः रहा करती थीं जो युद्ध में गुलाम बना ली जाती थीं। क्या मैत्रेयी गुलाम बना ली गई है? पर कीर्तिवान तो स्वतन्त्र है। अग्निवर्मा सोचता रहा।

वह घूम-फिरकर उसी जगह पहुँचा जहाँ मन्दिर बन रहा था। नगर उसी ओर बढ़ रहा था। दो-चार साल में ही वहाँ काफ़ी मकान बन गए थे।

एक और वेश्यालय के सामने गया। वहाँ एक-दो आदमी खड़े थे। शक्ल-सूरत से वे भले नहीं लगते थे। उनसे भी पूछ-ताछ की, पर मैत्रेयी का वे पता न दे सके।

वह चलते-चलते मन्दिर के पास गया, वक्त काफ़ी हो गया था। एक मकान में अब भी बत्ती जल रही थी। खिड़की का उपरला पर्दा हटा हुआ था, और दीवार पर किसी स्त्री के मुँह की सुन्दर परछाईं पड़ रही थी। अग्निवर्मा चौंका, गौर से अन्दर देखने लगा। उसका माथा ठनका। उसकी शक्ल मैत्रेयी से मिलती-जुलती थी। उसने मकान के

अन्दर घुसना चाहा, वह रोक दिया गया, एक हट्टा-कट्टा आदमी रास्ता रोके खड़ा था। वह बाहर धकेल दिया गया।

मन मसोसकर वह सड़क के पास एक ओर मकान की सीढ़ियों पर बैठ गया। उसके मन में नाना प्रकार के विचार उठ रहे थे। एक क्षण उसने यह भी सोचा कि यहाँ से उठकर चला जाये, मैत्रेयी का मुँह तक न देखे। पर वह कुछ सोचकर रह गया। हो सकता है कि वह कीर्तिवान को ही दोष दे रहा हो, और जब इतनी दौड़-धूप की है तो देखकर जाना ही उसे अच्छा लगा। यह भी सम्भव था कि मैत्रेयी से बुढ़िया के बारे में कुछ मालूम हो सके।

वह बैठा रहा, एक विचार आता और वह बढ़ता जाता—इतना बढ़ता जाता कि अग्निवर्मा आँखें मींच लेता, किसी और बात पर सोचने की कोशिश करता, पर वह पुरानी बात विराट रूप में फिर ताण्डव करने लगती। उसे ऐसा लगता जैसे उसका अंग-अंग जल रहा हो।

वेश्यालय में भी एक-एक करके बत्तियाँ बुझ रही थीं, कुछ कामुक मतवाले गाते गुनगुनाते सड़क पर से शायद घर की ओर जा रहे थे। अग्निवर्मा ध्यान से उस खिड़की की ओर देख रहा था, थोड़ी देर बाद वहाँ भी बत्ती बुझ गई।

फिर एक स्त्री बाहर सड़क के पास आकर इस तरह खड़ी हुई जैसे किसी की प्रतीक्षा कर रही हो। अग्निवर्मा हिम्मत बाँधकर उसके पास गया। वह मैत्रेयी थी। उस सुन्दर चेहरे में अब केवल आँखें ही दिखाई देती थीं। गाल धँस चुके थे। माथे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं।

मैत्रेयी उसको तुरन्त न पहचान सकी। अर्सा हो गया था। फिर अग्निवर्मा बदल भी गया था।

"मुझे पहिचाना नहीं? मैं अग्निवर्मा हूँ।" उसने अपना परिचय दिया।

मैत्रेयी ने तुरत उसका आलिंगन करना चाहा, पर अग्निवर्मा जाने क्यों पीछे हट गया। मैत्रेयी भी अचरज करती पीछे हट गई। अपने

को ही गौर से देखने लगी। जैसे वह उसके योग्य न हो।

"किसी की प्रतीक्षा कर रही हो?"

"हाँ, वे रोज आकर ले जाते हैं।"

"कीर्तिवान?"

"हाँ..."

"...तो यह उसी की करतूत है?"

"क्या बताऊँ? यूँ तो पत्नी पति के हाथ में कठपुतली है और अगर वह दोषी साबित हो जाए, तो उसकी हालत गुलाम से भी बदतर है। कठपुतली तो नाचती ही है, भगवान् जाने गुलाम को क्या-क्या काम करने पड़ते हैं।

"बड़ा कमीना है, अपनी पत्नी को ही बेचता फिरता है।"

"जीना तो है ही, गाँव सातवाहन के सैनिकों ने घेर लिया, उजाड़ दिया, दर-दर भटकते रहे, सिपाहियों को बेचने के सिवाय जान बचाने का कोई रास्ता न था।"

"क्यों, यह कोई रोजी नहीं कर सकता था?"

"शायद नहीं......मैं जो इनके हाथ में हूँ।"

"पर आजकल तो वह काम कर रहा है?"

"हाँ, काम तो अभी मिला है, मेरे द्वारा ही मिला है। पर मैं क्या जानूँ कि अब भी वे मुझे क्यों सजा दे रहे हैं?"

"क्या वह आदमी नहीं है?"

"जाने दो, ये बातें नहीं होतीं अगर तुम मुझे उस दिन नासिक से ले जाते, उस गाँव से साथ ले आते तो..."

"तो मैं दोषी हूँ?"

"नहीं, नहीं, मेरा मतलब..."

"कभी तुमने वह बुढ़िया देखी जो हमारे साथ गाँव में आई थी?" अग्निवर्मा ने बात बदलते हुए पूछा।

"हाँ, एक बार धन्यकटक के रास्ते में मिली थी।

"मिली थी ?"

"हाँ।"

अग्निवर्मा सहसा सड़क पर चलने लगा, मैत्रेयी ने उसका हाथ पकड़कर कहा, "अगर चाहो तो मैं तुम्हारे साथ..."

"तुम से तो वह पुष्पवल्ली ही भली। लानत है उन स्त्रियों को, जो कर्त्तव्य के ख्याल में औचित्य-अनौचित्य को भूल जाती हैं।"

"पर..." मैत्रेयी गिड़गिड़ाने लगी।

"पर तुम तो किसी और की प्रतीक्षा कर रही हो। मैं पागल था कि तुम्हें देखने के लिए इधर-उधर धक्के खाता रहा। कभी तुम्हारा मुँह भी न देखूँगा। हटो रास्ते से।"

"पर..."

"पर वर क्या लगा रखी है ?" कीर्तिवान अकस्मात् आकर मैत्रेयी का कन्धा खींचने लगा। "अभी तो जी रही हो, फिर इसको पास आने दिया तो जान भी न रहेगी, समझी।"

"न रहे", मैत्रेयी कीर्तिवान का हाथ छुड़ाकर अग्निवर्मा की ओर आना चाहती थी, अग्निवर्मा बिना पीछे देखे चलता जाता था।

३८

धान्यकटक वह भागा-भागा आया था पर भारी हृदय लेकर वापिस जा रहा था। मैत्रेयी को न देखता तो शायद वह कुछ दिन और वहाँ रहता। मैत्रेयी ने उसका वह स्वप्न भंग कर दिया था, जिसको वह पत्थरों में स्थायी करता आया था।

वह स्वयं एक भग्न-पात्र की तरह थी······पतित, घृणित, पद-दलित। उस भग्न-पात्र के टुकड़ों ने अग्निवर्मा को घायल कर दिया था। जीवन की लम्बी साधना हठात् समाप्त हो गई थी। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ था।

उसके मन की अवस्था ऐसी थी कि वह चोट जो कभी किसी कारण से भर चुकी थी फिर ताजी हो रही थी। पुष्पवल्ली की याद कभी वह भूल से भी न करता था, पर अब बरबस उसको ऐसा लगता था कि वह उसका रास्ता रोककर खिलखिलाकर हँस रही हो।

पश्चिमी ड्योढ़ी से वह धन्यकटक नगर से धीमे-धीमे चलता निकल गया। उसको यह भान होता-सा लगता था कि बुढ़िया भी कहीं न कहीं मिलेगी, जीवन का प्रवाह विचित्र है, कई बार वे ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, भिन्न-भिन्न स्थलों पर मिलते-रहते हैं। सब एक ही राह के राहगीर मालूम होते हैं। आगे-पीछे, पीछे-आगे होते चलते जाते हैं।

कोई बूढ़िया लाठी टेककर चलती नजर आती तो पास जाकर वह उसको गौर से देखता। वह अपने आप बुढ़िया की शक्ल-सूरत

भूल-गया था। उसको वही शक्ल याद थी जो उसने बुढ़िया को याद कर अपनी गुफा की दीवार पर खोद दी थी, पर अब वह यह निश्चय न कर पाता था कि गुफा की बुढ़िया में और वास्तविक बुढ़िया में कितना साम्य होगा।

लेकिन उसे बुढ़िया कहीं न मिली। काफ़ी छानबीन की। उसका जहाँ-जहाँ होना सम्भव था वहाँ-वहाँ अग्निवर्मा अच्छी तरह खोज आया था। वह थक-थकाकर निराश हो गया।

मन्दिरों में भी वह बुढ़िया की तलाश करने गया। कितने ही आदमी थे, बूढ़े, बूढ़ी, जवान स्त्रियाँ, लड़कियाँ, पर कहीं बुढ़िया का पता न था। अग्निवर्मा ने अनुमान किया कि बुढ़िया शायद रास्ते में कहीं मिट्टी हो गई हो।

उसने राजा के पास जाकर तुरन्त उसका सौंपा हुआ कार्य कर देना चाहा। "पर कुछ सोचकर रह गया।" कभी न कभी तो मुलाकात उनसे होगी ही?

वह मन्दिर पार कर नदी के किनारे आगे-आगे चलता गया। एक दिन वह इसी रास्ते जान बचाकर, धन्यकटक छोड़कर, जंगल में भागा था—उस घटना के स्मरण मात्र से वह सिहर उठता था। रुक-रुक कर कई वार पीछे देखता, किसी को न पा, निश्चिन्त हो चलता जाता।

एक समय वह भी आता है जबकि काम कारीगर को खोजता आता है, मेरा भी समय आएगा, शायद भिक्षु ठीक ही कहता है कि मेरी जैसी गुफा भारत भर में कहीं नहीं है, मुझे काम करते रहना चाहिए। अच्छा काम दूर-दूर से दर्शकों को आकर्षित करता है।" वह सोच रहा था।

कृष्णा नदी में बाढ़ कम हो चुकी थी। वह नाव में उस पार जा सकता था, और घंटा पथ से अपनी गुफा तक पहुँच सकता था किन्तु उसने इस पगडण्डी से जाना चाहा, न जाने क्यों वह वह ग्राम भी देखना चाहता था जहाँ उसको आत्मीय जानकर महीनों लोगों ने

ग्रातिथ्य दिया था। यह भी सम्भव था कि वह पुष्पवल्ली के बारे में जानना चाहता हो।

चलते-चलते वह ग्राम के पास पहुँचा। खेतों में जहाँ कभी धान लहलहाया करता था, अब कुछ न था। यहाँ तक कि ताड़ के पेड़ भी नंगे कर दिए गए थे। उसने कई ऐसे झोंपड़े भी देखे, जो उसने बनाए थे।

वह घूम फिरकर कुएँ के पास पहुँचा। ग्राम देखने के लिए वह इतनी दूर से चला ग्राया था पर ग्राम की सीमा में ग्राकर वह हिचकिचा रहा था कि ग्राम में जाये कि नहीं।

कुएँ पर ग्रौरतों की भीड़ थी, ग्रापस में वे बातें कर रही थीं। किसी ने ग्रग्निवर्मा को न पहिचाना। उसकी भी यह हिम्मत न हुई कि पुष्पवल्ली के बारे में किसी से पूछे। बात गले तक ग्राती ग्रौर रुक जाती, घुड़की भरकर वह रह जाता।

उसकी ग्राँखें छलछला ग्राईं। वह काँपने लगा। वह वहाँ खड़ा न रह सका। ग्राँसू पोंछता हुग्रा उस दिशा की ग्रोर चला गया जिस ग्रोर वह उस दिन पुष्पवल्ली को त्यागकर गया था।

नदी का पाट वहाँ तंग था। वह इस तरह नदी पार कर गया जैसे नशे में हो। जल्दी-जल्दी कदम रखता हुग्रा वह ग्रपनी गुफा में चला गया। जब वहाँ पहुँचा तो भिक्षु चेतन ग्रौर दो-चार भिक्षुग्रों को गुफा दिखा रहे थे। ग्रग्निवर्मा को देखकर सब ने नमस्कार किया मानो वह कोई गुरु हो।

———

८०

"तो आपके गुरु राजा को जानते हैं?" अग्निवर्मा ने सवेरे भिक्षु चेतन से इस प्रकार फिर पूछा, जैसे रात भर की इसी बात पर सोच रहा हो।

"हाँ, हाँ, राजा उनके घनिष्ट मित्र हैं।" भिक्षु चेतन ने कहा।

"क्या नाम बतलाया उनका? कुछ भूलता हूं।"

"आचार्य नागार्जुन।"

"मैं क्या उनको देख सकूंगा? पहिले ही मैं कहे देता हूँ कि न मैं ब्राह्मण हूँ, न भक्त ही।"

"उनसे मिलने के लिए न ब्राह्मण होने की जरूरत है न भक्त होने की आवश्यकता है। गरीब से गरीब, धनी से धनी, किसी भी धर्म के हों उनसे निस्संकोच मिल सकते हैं। मैंने तुमसे कहा था न कि बौद्ध धर्म में कोई भेद-भाव नहीं है।" चेतन कह रहे थे और अग्निवर्मा गुफा की मूर्तियों को नीम की पत्ती से झाड़ता जाता था!

"कहाँ रहते हैं वे?"

"राजा ने उनके लिए कुटिया बनवाई थी भ्रमर गिरि पर, पर प्रायः वे उसमें रहते नहीं हैं। हमेशा कुटिया के सामने के पेड़ के नीचे बैठे रहते हैं।"

"क्यों?"

"क्योंकि और भिक्षुओं के लिए सुरक्षित स्थान नहीं है। राजा ने

बनवाने के लिए कहा था पर इस बीच युद्ध छिड़ गया, और सारा काम स्थगित कर दिया गया।

"तो राजा ने बनवाने का वचन दिया था ? अब तो युद्ध समाप्त हो गया है, क्या बनवायेंगे ?"

"बनवायेंगे ही।"

"क्या आप मुझे वहाँ ले जा सकेंगे ? कितनी दूर है भ्रमर गिरि ?"

"आप यहाँ सालों से रह रहे हैं, और भ्रमर गिरि नहीं जानते ? यहाँ तो उसे बच्चा-बच्चा जानता है। वही ग्राम के पार की छोटी पहाड़ी। यहाँ से भी दीखती है।" भिक्षु ने कहा।

"तो चलिए चलें।" अग्निवर्मा ने भिक्षु के उत्तर की भी प्रतीक्षा न की। वह गुफा से बाहर चल दिया। उसके साथ भिक्षु चेतन भी थे। अग्निवर्मा जल्दी-जल्दी आगे-आगे बढ़ता जाता था, भिक्षु साथ चल न पाते थे। अग्निवर्मा गाँव पार कर रुक गया, और भिक्षु चेतन की प्रतिक्षा करने लगा।

उसके बाद भिक्षु चेतन आगे जा रहे थे और पीछे अग्निवर्मा। चाल ढीली हो गई थी। वह कुछ सोचता लगता था।

"वे बुरा तो नहीं मानेंगे कि यदि मैं खाली हाथ उनसे मिलने गया ?" अग्निवर्मा ने झिझकते हुए पूछा।

"इसमें बुरा मानने की क्या बात है ?"

"क्या उनकी मूर्ति-कला में कुछ अभिरुचि है ?"

"पंडित हैं, होगी ही, मालूम नहीं।"

अग्निवर्मा सिर ऊँचा कर भिक्षु की ओर देखने लगा मानो इस उत्तर की कल्पना न की हो।

सामने कई भिक्षु दिखाई दिए। कई श्वेताम्बर, कई पीताम्बर, एक-दो भद्दी-भद्दी झोंपड़ियाँ भी मार्ग से हटकर बनी थीं। मार्ग एक बावड़ी के पास खतम हो गया। चारों ओर घने वृक्ष थे। एक तरफ केले, कटहल के पेड़ लगे थे। पेड़ों की छाया में कुछ और घर बने थे। यहाँ

भिक्षुओं की संख्या अधिक थी। सभी किसी न किसी कार्य में मग्न नजर आते थे। उसमें वे भी थे जो पिछले दिन अग्निवर्मा की गुफा देख आए थे। वे उसे देखकर मुस्करा रहे थे।

बावड़ी के पास एक सँकरा रास्ता निकल आया था, पहाड़ी की मोड़ में कुछ समतल प्रदेश था, फिर पेड़ों का झुरमुट। विशाल पेड़ के नीचे एक ऊँची पीठिका पर पीत वस्त्रधारी कोई भिक्षु बैठे हुए थे। उन के सामने दो-तीन पुस्तक भिक्षु पुस्तक पढ़ रहे थे।

अग्निवर्मा सहसा रुक गया। भिक्षु चेतन ने संकेत से बताया कि पीठिका पर बैठे भिक्षु ही आचार्य नागार्जुन हैं। वे अग्निवर्मा को वहाँ खड़ा करके उनकी अनुमति लेने गए। आचार्य की आज्ञा से सामने बैठे भिक्षु दूर हट गए। अग्निवर्मा ने आचार्य के समक्ष जाकर नमस्कार किया।

"विराजिए।" आचार्य नागार्जुन ने कहा।

"जी, मैं कलाकार हूँ।" अग्निवर्मा रास्ते में बहुत कुछ सोचता आया था। एक बड़ा-सा वक्तव्य भी मन में तैयार कर लिया था, पर अब उसके मुख से मुश्किल से बातें निकल रही थीं। आचार्य की गम्भीरता और नम्रता ने कदाचित् उसको मूक बना दिया था।

"हाँ, हाँ, मुझे भिक्षु चेतन ने बताया था, और दो-चार भिक्षु भी आपकी गुफा देख आए हैं। आपने और कुछ बनाया है ?" आचार्य ने पूछा।

"बनाया तो काफ़ी था, न अब मूर्त्तियाँ ही हैं, न मन्दिर ही। अग्निवर्मा ने हिचकिचाते हुए कहा।

"क्या आप हिन्दू हैं ?" आचार्य ने पूछा।

"जी नहीं, मैं मूर्ति बनाना चाहता हूँ।"

"आपको मूर्तियों में श्रद्धा नहीं है ?"

अग्निवर्मा कोई जवाब न दे सका, और आचार्य की एकाग्र दृष्टि उस पर केन्द्रित थी।

"हाँ तो आप कलाकार हैं ?" आचार्य ने पूछा ।

"जी, बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ ।"

"मैं क्या आपकी बनाई हुई मूर्तियाँ देख सकता हूँ ?"

"अवश्य, यह मेरा अहोभाग्य है कि आप मेरी कृतियाँ देखना चाहते हैं । जरूर पधारिए । मेरी गुफा पास में ही है ।" अग्निवर्मा ने हाथ जोड़ कर प्रफुल्लित होकर कहा ।

"भिक्षु चेतन तो आपकी गुफा का मार्ग जानते ही हैं । अच्छा ।" आचार्य ने कहा ।

"नमस्कार," अग्निवर्मा पीछे हट गया । और आचार्य के समक्ष यथापूर्व भिक्षु आकर बैठ गए । अग्निवर्मा जब वापिस गुफा की ओर जा रहा था । तो उसे लगा कि वह बहुत कुछ कहना चाहता था पर कुछ भी न कह पाया था । उसे आचार्य के गम्भीर व्यक्तित्व पर आश्चर्य हो रहा था । उन्हीं के बारे में सोचता जाता था ।

रास्ते में वह आम के पत्ते भी तोड़कर लेता गया । गुफा के द्वार पर उसने तोरण बाँध दिए । गुफा को सजा दिया, आस-पास की जगह साफ कर दी, और आचार्य के आगमन की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगा ।

४१

अगले दिन प्रातःकाल आचार्य नागार्जुन अग्निवर्मा की गुफा देखने निकले। सूर्य भी न निकला था कि अग्निवर्मा नहा-धोकर टीले पर आचार्य के आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

गाँव में उसे भिक्षुओं का झुण्ड आता दिखाई दिया। आगे भिक्षु चेतन थे और उनके पीछे वयोवृद्ध नागार्जुन, फिर भिक्षु और कई परिव्राजक। सूर्य की बाल किरणें उनके पीत वस्त्रों पर चमक रही थीं। उनको आता देख अग्निवर्मा का मन बल्लियों उछलने लगा।

जब आचार्य मैदान के पास पहुँचे तो अग्निवर्मा ने उनको साष्टांग दण्डवत की। अग्निवर्मा ने इससे पहिले कभी किसी को इस प्रकार अभिवादन न किया था। उसको स्वयं इसका कारण स्पष्ट न था। आचार्य ने उसको आशीर्वाद दिया। और भिक्षु गुफा के द्वार पर, कुछ दूरी पर, खड़े हो गए। आचार्य नागार्जुन पीठिका पर बैठ गए। वे ध्यान से मूर्तियाँ देखने लगे।

"ये मूर्तियाँ तो भगवान् की नहीं हैं?" आचार्य नागर्जुन ने पूछा।

"अव्यक्त की मूर्ति कैसे बनाई जाए। ये व्यक्त व्यक्तियों की मूर्ति है।" अग्निवर्मा ने कहा।

आचार्य नागर्जुन मुस्कराये, वे शायद अग्निवर्मा के उत्तर से प्रसन्न थे

"पर अव्यक्त की कल्पना की मूर्ति तो बनाई जा सकती है?" आचार्य नागार्जुन ने अग्निवर्मा को परखने के लिए पूछा।

"बनाई जा सकती है, पर वह निर्माण भी क्या जिसमें नियन्त्रण न

हो ? कल्पना के मूर्तिकरण के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं, मूर्ति भी उतनी अनियन्त्रित हो जाती है जितनी कि कल्पना। कला की कसौटी वास्तविकता है, काल्पनिक वस्तुओं की कसौटी कल्पना ही है। आचार्य आप तो जानते ही हैं।" अग्निवर्मा इस तरह बोल रहा था जैसे वर्षों के मौन व्रत के बाद अपनी भाषा में बोल रहा हो। आचार्य की प्रसन्न मुद्रा ने उसको बच्चा-सा बना दिया था। वह स्वयं अपने साहस पर चकित था।

"आपको कहीं शिक्षा-दीक्षा मिली है ?" आचार्य ने पूछा।

"जी नहीं, नासिक में कुछ दिन सीखा था फिर नासिक के पास एक ग्राम में काम करता रहा बस, उसके बाद यहाँ..." अग्निवर्मा ने कहा।

"चीज़ तो बहुत अच्छी है..." आचार्य कह ही रहे थे कि उनके शिष्य ने गुरु को प्रसन्न मुद्रा में पा उन्हीं के सिद्धान्त का एक वाक्य दुहराया "पर नश्वर है।"

"हाँ सब नश्वर है, नश्वरता का अपना-अपना परिमाण है, कोई चीज़ जल्दी नश्वर होती है तो कोई देर में, पत्थर की नश्वरता लम्बी है।" आचार्य ने मुस्कराते हुए कहा। "ये यदि काल्पनिक नहीं हैं तो किसकी मूर्तियाँ हैं ?" आचार्य ने अग्निवर्मा से पूछा।

"यह एक लम्बी कहानी है..."

"खैर, मूर्ति तो पूजा के लिए भगवान् की बनाई जाती है, क्यों ?" आचार्य कुछ सोचने लगते थे।

"जी हाँ, पूज्य व्यक्तियों की बनाई जाती है, पूज्य भगवान् भी हो सकते हैं और मनुष्य भी, भगवान् तो एक आदर्श हैं, बना-बनाया निश्चित स्वप्न है, कलाकार के अपने भी स्वप्न हैं, भाव हैं, मैंने उनको रूप दिया है।"

"आपकी शिक्षा-दीक्षा कहीं न हुई पर आप तो ऐसी बातें कर रहे हैं जो कई भिक्षु कई वर्षों के अध्ययन के बाद भी न कर पाते हैं। शायद आपको अनुभव अधिक है ?'

अग्निवर्मा झेंपता खड़ा रहा, वह स्वयं सोच रहा था कि इतनी सारी बातें अनायास एक प्रसिद्ध पंडित के समक्ष कैसे निकल पड़ी थीं।

"मुझे यह काम बहुत पसन्द आया। यह रिक्त स्थल, काल, फिर जन्म, बचपन, यौवन, वार्धक्य, मृत्यु, रिक्त स्थल, शून्य की शृंखला, शून्य की पृष्ठभूमि,—यह एक गम्भीर चित्र है, गम्भीर इसका अर्थ है।" आचार्य ने अपने शिष्यों को सम्बोधित कर कहा। भिक्षु ध्यान से चित्र को देख रहे थे।

इतने में एक छोटी लड़की, सुन्दर वस्त्र पहिने, हाथ में एक फूल लेकर आचार्य के सामने आकर खड़ी हो गई। "चलो भी," वह आचार्य का हाथ पकड़कर खींचने लगी।

"चलते हैं, बेटी, देखो इस लड़की को," वृद्ध आचार्य ने बच्चे की आवाज़ में लड़की को लड़की की मूर्ति दिखाई। वह लड़की, लड़की की मूर्ति के पास बैठकर उसका मुँह कुरेदने लगी। थोड़ी देर बाद उसने अग्निवर्मा को देखा, अग्निवर्मा भी उसे ध्यान से देख रहा था। लड़की जाने क्यों उससे लिपट गई। अग्निवर्मा ने उसे दुलारा-पुचकारा, वह झट बाहर चली गई।

आचार्य भी उसके पीछे बाहर चले आये। वे लम्बा रास्ता चलकर आये थे। फिर भी उनके मुँह पर कोई थकान का चिन्ह न था। वे बहुत सन्तुष्ट प्रतीत होते थे।

"बहुत ही सुन्दर प्रयत्न है, कुछ बातें करनी हैं, क्या कल या फिर कभी कुटिया पर आ सकोगे?" आचार्य ने अग्निवर्मा से पूछा।

"जी, अवश्य," अग्निवर्मा ने फिर झुककर उनको नमस्कार किया। आचार्य गाँव की ओर चल दिए।

पीछे चलते-चलते एक भिक्षु ने कहा "आप बड़े सौभाग्यशाली हैं कि आचार्य आपकी गुफा देखने आए। वे अपनी कुटिया से कभी बाहर नहीं जाते हैं। राजा-महाराजा उन्हीं के पास आते हैं, वे कहीं नहीं जाते।"

भिक्षु चले गए। अग्निवर्मा गुफा में आँखे बन्द कर सोचने लगा। वह वहुत प्रसन्न था, मानो उन्मत्त हो।

हाथ उठाकर वह यकायक बड़बड़ाने लगा—

"क्या मैं राजा से मिलूंगा ?"

"जरुर..."

फिर उसने अट्टहास किया, उसकी मूर्तियाँ भी उसको आश्वासन देतीं उसके अट्टहास को प्रतिध्वनित कर रही थीं।

८२

पीठिका पर आचार्य नागार्जुन विराजमान थे। ठीक उनके पीछे सूर्य उदय हो रहा था,…लगता था मानो उनके सिर से सूर्य-रश्मियाँ उदभूत हो रही हों। आचार्य ध्यानमग्न प्रतीत होते थे।

अग्निवर्मा कुछ देर तक उनके समक्ष विनम्र हाथ जोड़े खड़ा रहा। उसने आचार्य को अपनी उपस्थिति की सूचना न देनी चाही। भिक्षुओं से मालूम कर लिया था की ब्राह्म मुहूर्त में ही आचार्य ने उसके बारे में पूछा था।

आचार्य ने आँखे खोली। समक्ष अग्निवर्मा को पा उन्होंने कहा, "तो आप आ गए?"

अग्निवर्मा ने साष्टांग किया।

"आपको शायद बौद्ध धर्म के विषय में कोई आपत्ति नहीं है। बौद्ध धर्म, मनुष्य, मनुष्य में जन्म के आधार पर कोई भेद नहीं मानता। यह धर्म भगवान पर अधारित नहीं है, मानवता पर आधारित है, नैतिकता पर है, धर्म का केन्द्र व्यक्ति अवश्य है, पर यह समाज के छोर से शुरू होता है, व्यक्ति की नैतिकता और समाज की नैतिकता में यह समान आधार ढूंढ़ता है। व्यक्ति और समाज में कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं है, वे परस्पर कारण हैं, कार्य भी… मैं बौद्ध धर्म के दर्शन के बारे में या उसकी परम्परागत विचारधारा के बारे में कुछ नहीं कह रहा। मैं वही कह रहा हूँ जिससे सम्भवतः आप परिचित हैं। बुद्ध

धर्म का ध्येय 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' है। इस आदर्श पर आपको कोई आक्षेप तो नहीं है ?"

"नहीं तो, आपके धर्म के अनुसार सब समान हैं ?"

"न सब समान हैं, न हो सकते हैं, यह दार्शनिक सत्य है। यह कहना उचित होगा कि जन्म के आधार पर बौद्ध धर्म में ऊँच-नीच का निर्धारण नहीं होता। इसका मूल्य कुछ और है। वह जन्म और जाति के प्रतिबन्धों से मुक्त है।"

"यानि, मनुष्य स्वतन्त्र है···स्वतन्त्र रूप से रह सकता है,··· स्वतन्त्र रूप से अपने विचार व्यक्त कर सकता है ?" अग्निवर्मा ने पूछा। आचार्य ने उसको उसी स्थल पर बिठा दिया जहाँ पहिले भिक्षु आसीन थे।

"हाँ, जीवन व्यापन के लिए अष्टमार्ग हैं, पर वह विषयान्तर हैं, आप उनके बारे में भी जान सकते हैं ?" आचार्य ने कहा।

"पर बुद्ध धर्म में भक्ति का क्या स्थान है ?"

"वही जो विचार का है; विचार कई प्रकार के हैं, परम्परागत विचार में, पीढ़ियों बाद, जबकि विचार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ा को दे दिया जाता है, एक व्यक्ति का विचार समष्टि का अनुभव हो जाता है, तो उस विचार के स्रोत रूप व्यक्ति के लिए भक्ति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। मानव-हृदय स्नेहशील है। और स्नेह के बहु रूपों में भक्ति एक रूप है।" आचार्य ने कहा।

"मैं बहुत दिनों से यह जानने के प्रयत्न में था कि मन्दिर क्यों बनाए जाते हैं ?" अग्निवर्मा ने अपनी उत्सुकता व्यक्त की।

"कारण बहुत हैं, व्यक्ति और भगवान की कल्पना हिन्दु धर्म में अलग-अलग हुई है। और व्यक्ति को भगवान् से एकसात् होने की प्रेरणा मिली है। उस प्रेरणा को वह पूजा में अभिव्यक्त करता है, मन्दिर उसका वाह्य रूप है, हिन्दु धर्म बहिर्मुखी है, बौद्ध धर्म से पार्थक्य का प्रश्न ही नहीं है, इसलिए एकसात् होने की भी प्रेरणा नहीं है। भगवान् के अस्तित्व के बारे में हम नहीं उलझते। बौद्ध धर्म अन्तर्मुखी

है, नैतिक है, इसका बल मनुष्य पर है, भगवान् पर नहीं। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको इसके बारे में भी उत्सुकता है।"

"यदि यही बात है तो मन्दिर इतने बड़े-बड़े क्यों बनाए जाते हैं ?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"इसके भी कई कारण हैं। किसी चीज़ के बड़े होने से किसी व्यक्ति विशेष को विशेष श्रेय नहीं मिलता, क्योंकि एक व्यक्ति उसे बना नहीं सकता। मन्दिर समाज का है, उसके निर्माण में हर व्यक्ति का हाथ होना चाहिए। हमारे स्तूप भी इस प्रकार के हैं। सहज भक्ति भौतिक रूप मन्दिर है, स्तूप है।" आचार्य ने कहा।

अग्निवर्मा ने कुछ न कहा। वह प्रश्न जो उसके मन में बहुत दिनों से उलझा आ रहा था, यकायक सुलझ गया।

"आपने जो कुछ पूछना था शायद पूछ लिया है। अब मुझे कुछ पूछना है। आपने गुफा क्यों बनाई ?"

"इसका उत्तर मैं कैसे बताऊँ। मैं जिस परिस्थिति में था और कुछ न बना सकता था, कोई विशेष कारण न था, हाँ, एक बात जरूर मेरे मन में रही कि जब पहाड़ से पत्थर काटकर मन्दिर बनाया जा सकता है, तो पहाड़ को भी मन्दिर बनाया जा सकता है। पत्थर काट कर बना एक मन्दिर मैंने प्रतिष्ठान में देखा था। अग्निवर्मा ने कहा।

"शायद आपको यह न सूझा था कि बौद्ध धर्म के अन्तर्मुखी होने का संकेत गुहा ही उचित रूप से दे सकती है। न मन्दिर ही, न स्तूप ही। ये सब बाह्य रूप हैं ; गुफा मनन, चिन्तन, मनोवीक्षण का प्रतीक है,......मैं चाहता हूँ कि इस भ्रमर गिरि पर, श्रीपर्वत पर गुफाएँ बनें।" आचार्य कह रहे थे कि अग्निवर्मा ने प्रसन्न होकर कहा "जो आपकी आज्ञा।"

"इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि आप भिक्षु बनें।"

"पर क्या भिक्षु मेरी बनाई हुई गुफाओं को पूजेंगे ?"

"गुफाएँ मन्दिर की तरह पूजी नहीं जाएँगी, वहाँ भिक्षु रहेंगे।

भिक्षु वर्ष भर पर्यटन करते हैं। वर्षा काल में उनके ठहरने के लिए कोई जगह नहीं है। आपने देखा होगा कि वर्षा ऋतु में भी वे वृक्षों के नीचे भीगते-भीगते काट देते हैं। उनको आश्रय देना होगा। और गुफा ही उनको आश्रय दे सकती है। बौद्ध भिक्षु अब से या तो बाहर रहेंगे, नहीं तो गुफाओं में।" आचार्य ने कहा।

अग्निवर्मा के मन में आया कि वह उनसे प्रार्थना करे कि वे उसको राजा मञ्जश्री के पास भेज दें, पर बातों का प्रसंग ही कुछ ऐसा था कि वह उनसे इस बारे में कुछ न कह सका।

"अच्छा, तो मिलते रहिए, इस विषय में हमें और भी विचार-विमर्श करना होगा।"

अग्निवर्मा साष्टांग करके चला गया। और आचार्य फिर ध्यान-मग्न हो गए। वह जाता-जाता बावड़ी के पास गया। वहाँ उसे वह लड़की दिखाई दी जो पिछले दिन आचार्य के साथ उसकी गुफा में आई थी, वह मयूर से खेल रही थी।

अग्निवर्मा ने उसको पास बुलाया। वह आई भी। उसी को वह निरन्तर देखती गई, उसकी आँखें भी उस पर से हटती न थीं, उसने उससे कुछ बोलना चाहा, पर कुछ बोल न सका, उसकी मुखाकृति पर ही वह मुग्ध था। लड़की उसको घूरता देखकर, आँखें मींचकर, आचार्य के पास भाग गई।

वह कँकरीले, पथरीले, पहाड़ी रास्ते पर जा रहा था, पर उसे ऐसा लग रहा था मानो पर लगाकर वह उड़ रहा हो।

———

४३

अग्निवर्मा अपनी गुफा तक गया पर वहाँ वह आराम से न बैठ सका। उसको ऐसा लगा जैसे पहाड़ में उसने असंख्य गुफायें बनादी हो, वृक्ष वनस्पति की हरीतिका में भिक्षुओं के शुभ्रपीत वस्त्र मिल गए हो।

वह इसकी कल्पना भी न कर पाया था कि वह अनजाने ही या परिस्थितिवश कोई ऐसा कार्य कर बैठा था जो अपने क्षेत्र में सर्वथा नया था, बिचित्र था, और एक उदात्त धर्म का प्रतीक था।

वह आचार्य की वातों को मन ही मन दुहराता जाता था। धर्म के विषय में उसके अपने विशेष कोई विचार न थे। पर आचार्य के तत्सम्बन्धी विचार उसके धर्म की कल्पना के बहुत निकट थे। किन्तु वह धर्म में अभी उलझना नहीं चाहता था। वह किसी चीज़ से विशेषतः आसक्त न था, पर वह विरक्त भी न था।

फिर वह लड़की भी जाने क्यों उसके मन में घर करती जाती थी, भोली-भाली शक्ल, सुन्दर भाव-भंगिमा, चुस्त, उसको सहज पुष्पवल्ली की याद दिलाती थी। उसे खेद था कि वह पुष्पवल्ली से न मिल सका था। कहीं वह भी मैत्रैयी की तरह न बिगड़ गई हो। निराधार, कायर, स्त्री प्राय: मार्ग-विचलित हो ही जाती हैं।

उलझे हुए विचार और उलझते गए, भिन्न-भिन्न गुफायें भिन्न-भिन्न भित्ति-चित्र उसकी कल्पना में रूप लेने लगे। पहाड़ की हर तराई उसको बुलाती-सी लगती, अँगुलियाँ मचलतीं, और वह करवट बदलकर रह जाता। वह काम के लिए उतावला हो रहा था।

इससे पहिले कि वह पुनः काम में लगता, बुढ़िया को दिया हुआ अपना वचन .पूरा करना चाहता था। उसने निश्चय कर लिया कि वह आचार्य से प्रार्थना करेगा कि वे उसको राजा के पास भेज दें। सहसा आचार्य से मिलने वह चल दिया। दिन ढल रहा था, सायँकाल होने को था।

आचार्य पीठिका पर पेड़ के नीचे आसीन नहीं थे। वे झोंपड़ी के सामने एकान्त में बैठे थे। झोंपड़ी के पीछे सूर्य अस्त हो रहा था। भिक्षु सायँकालीन कार्य में व्यस्त थे। वह छोटी लड़की, झोंपड़ी में शाक-सब्जी, फल आदि से खेल-खिलवाड़ कर रही थी।

"क्या मैं आ सकता हूँ ?" अग्निवर्मा ने सनम्र पूछा।

"हाँ, अवश्य, कहिये क्या बात है ?" आचार्य ने पूछा।

अग्निवर्मा जाने फिर क्यों हिचकिचाने लगा। आचार्य और अग्निवर्मा में विद्वत्ता की दीवार तो थी ही, आयु में भी बाबा पोते-का सम्बन्ध हो सकता था। पर उसको वह हमेशा "आदरणीय आप" कह कर सम्बोधित करते थे। अग्निवर्मा यह सुनकर लजाता था।

"मैं राजा से मिलना चाहता हूँ," अग्निवर्मा ने झटके के साथ कह दिया मानो उसे अन्यथा कहने का मौका न मिले।

"क्या ?" आचार्य ने गम्भीर स्वर में पूछा। अग्निवर्मा चुप रहा। फिर थोड़ी देर बाद उसने साहस बटोरकर कहा।

"मैं राजा श्री यज्ञश्री सप्तकर्णी को देखना चाहता हूँ।"

"गुफा बनाने के लिए राजा की सहायता अवश्य मिलेगी, वे स्वयं हिन्दू मत के अनुयायी हैं पर वे बौद्ध धर्म के प्रचार को भी प्रोत्साहित करते हैं, उनके परिवार में कई बौद्ध धर्मावलम्बी स्त्रियाँ हैं। क्या आप गुफा बनाने के लिए राजाज्ञा चाहते हैं ?"

"जी नहीं, मुझे जब आपकी आज्ञा प्राप्त है, तो और किसी की आज्ञा की अपेक्षा मुझे नहीं है।"

"आपने वह कार्य किया है जो पहिले किसी ने न किया था। यह

नया विचार है। आप उसके आविष्कर्ता हैं। कलाकार हैं। यज्ञश्री स्वयं आकर आपका आदर करेंगे, आपका कार्य देखेंगे।" आचार्य ने कहा।

"पर......"अग्निवर्मा झिझकने लगा। उसके मुख से शब्द न निकले।

"हाँ, कलाकार राजा से बड़ा होता है, राजा रक्षक मात्र है, कलाकार स्रष्टा है; राजा बल के आधार पर रक्षा करता है, और कलाकार बुद्धि के बल पर सृष्टि करता है। आपको देखने की जरूरत नहीं, राजा स्वयं आपको देखने आयेंगे।"

अग्निवर्मा भौंचक्का-सा खड़ा रहा। आचार्य उसको इस तरह प्रोत्साहित करेंगे, उसने कल्पना भी न की थी।

आचार्य ने दो-तीन भिक्षुओं को बुलवाया, उनमें भिक्षु चेतन भी थे। उनको एक पत्र देकर राजा के पास धन्यकटक जाने के लिए कहा। अग्निवर्मा फूला न समाता था। वह साष्टांग करके चला गया।

रास्ते में उसको वह नासिक का दृश्य याद हो आया—"पत्थर की कोई पूछ नहीं करता, पर जब वह मूर्ति बन जाता है, तो लोग उसको पूजते हैं" क्या वह मूर्ति बन गया था? उसके अन्तर के किसी भाग ने पूछा और कहीं से उत्तर मिला—"नहीं"

———

४४

अगले दिन जब वह आचार्य की कुटिया पर गया तो उस लड़की के हाथ में एक मोटी पुस्तक थी और आर्यदेव उसके पीछे चल रहे थे। उनको वह छेड़ रही थी, पास आती और उन्हें चकमा देकर दूर भाग जाती।

आर्यदेव की कुटिया बावड़ी के बगल में एक टीले पर थी। वे आचार्य के प्रधान शिष्य थे। उनके भी कई शिष्य थे। दिन-रात उनकी कुटिया में अध्ययन होता रहता। उनकी कुटिया के बाद आचार्य की कुटिया थी। वह लड़की आर्यदेव के साथ उनकी कुटिया में चली तो गई पर शीघ्र ही टीले पर से वह नीचे बावड़ी पर अग्निवर्मा को देखने लगी।

अग्निवर्मा बावड़ी के मेंढ़ पर उदास बैठा था। लड़की को मुस्कराता देखकर वह मुस्कराने लगा। और उसको आने का इशारा किया।

लड़की तितली की तरह इधर-उधर फुदक रही थी, पैर में नूपुर होते तो उसका भागना-दौड़ना शायद नृत्य की तरह होता। अग्निवर्मा में यकायक उसके लिए प्रेम उमड़ आया। इच्छा हुई कि उसको गोद में लेकर उसे खिलाये-पिलाये।

जब वह उसके पास से गुजरी तो उसने उसको पकड़ लिया। और उसके हाथ से पुस्तक लेकर बावड़ी के चारों ओर बच्चों की तरह भागने

लगा। लड़की थोड़ी दूर भागी, फिर मुँह मसोसकर एक जगह बैठ गई।

"दे दीजिये उसको पुस्तक।" आर्यदेव ने कहा।

"हमें नहीं चाहिए।" लड़की ने कहा।

"तुम नहीं लोगी तो हम भी न लेंगे, हम भी यहां बैठे रहेंगे।" आर्यदेव ने मुँह सुजाकर लड़की से कहा।

"अच्छा, तो लो," अग्निवर्मा के हाथ से किताब छीनकर उसने आर्यदेव को दे दी। आर्यदेव उठकर चल दिए, उसके पीछे-पीछे आगे-पीछे देखती वह लड़की भी चली गई।

अग्निवर्मा उसके साथ कुछ दूर तक गया। उसे मनाने लगा। पहिले तो उसने उसको साथ आने में आनाकानी की, फिर उछल-उछलकर चली आई।

वह एक पुराना गीत गुनगुनाने लगा। उसकी तर्ज उस गीत की तरह थी जो उसने उस ग्राम में बावड़ी के पास सालों पहिले नवयुवक और नवयुवतियों को खुशियाँ मनाते गाते सुना था। अग्निवर्मा को यह देखकर अचरज हुआ कि वह लड़की उस तर्ज पर नाचती लगती थी।

अग्निवर्मा ने गाना बन्द कर दिया, और उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचने लगा। वह लड़की मुस्कराती-मुस्कराती, घूरती-घूरती देखने लगी।

"गाओ न, क्यों रुक गये?" लड़की ने पूछा।

"मुझे गाना नहीं आता बेटी।"

"मैं तुम्हारी बेटी नहीं हूँ, आचार्य की हूँ।"

"हाँ, हाँ, तुम आचार्य की ही बेटी हो······हमारी भी हो।"

"यह कैसे हो सकता है, गाओ भी।"

"अगर तुम हमारे पास बैठोगी तो हम तुम्हें गाना सिखायेंगे।"

"सिखाओगे?"

"हाँ, जरूर।"

"तो आओ, हम आचार्य से अनुमति ले लें। चलो भी।"

वह अग्निवर्मा का हाथ पकड़कर आचार्य के पास ले गई। आचार्य अकेले बैठे थे। भोजन से निवृत्त होकर विश्राम करने लगे थे। लड़की सीधी उनके पास चली गई। "मैं इनसे गाना सीखना चाहती हूँ।"

"आपको गाना भी आता है," आचार्य ने अग्निवर्मा से पूछा।

"जी नहीं, जरा गुनगुना लेता हूँ।"

"अच्छा, बेटी, ये तो कहते हैं कि इन्हें गाना नहीं आता है।"

"आता है, अभी गा रहे थे, जो आता है वही सिखाएँ।"

"सिखा देंगे बेटी, संगीत सीखना चाहती हो ?"

"हाँ,"

"तो हम अच्छे शिक्षक बुलवायेंगे......तुम जाकर आराम करो।"

वह लड़की आर्यदेव की कुटिया में विश्राम करने चली गई। अग्निवर्मा उसी की ओर देखता रहा, जैसे उसकी चाल-ढाल किसी की याद दिला रही हो।

"दो-चार दिन में राजा यहाँ आ जायेंगे। आचार्य ने कहा।

"आपकी कृपा है। यह लड़की कौन है ?"

"हमारी ही है, यहीं रहती है।"

"मगर है कौन ?"

"जरा लम्बी कहानी है। यह कतई दूधमुँही बच्ची थी जब हमारे पास आई थी, तब से यह यहीं पल रही है। अच्छी भला लड़की है।"

"पर आपके पास यह आई कहाँ से ?"

"गाँववाले दे गए थे, उनको कहीं नदी किनारे पड़ी मिली थी, पता नहीं आपको क्यों यह बता रहा हूँ। भिक्षु जानते हैं पर उससे वे नहीं कहते। आप भी न कहिए।"

"गाँववाले दे गए थे ?" अग्निवर्मा ने आदतन प्रश्न को दुहराया।

"हाँ, सुनते हैं, इसकी माँ इसको नदी के किनारे छोड़कर स्वयं

नदी में डूब गई थी, पिता के बारे में हमें मालूम नहीं हैं।" आचार्य ने कहा।

"माँ ?" अग्निवर्मा ने कुछ पूछना चाहा पर मुख से बात न निकली।

"हमने माँ के बारे में भी बाद में पता लगाया। युद्ध के ज़माने में वह पश्चिम से आई थी, वह और उसका पति एक गाँव में बस गए थे। उम्र भी कोई बड़ी न थी, उसका पति उसको छोड़कर चला गया। कारण न मालूम हुआ। पत्नी ने आत्म-हत्या कर ली। ग्रामिक ने उसका नाम भी बताया था, अब तो ठीक तरह याद नहीं, शायद पुष्पलता था या कुछ और······"

आचार्य कह रहे थे, अग्निवमा की आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी, वह मुँह मोड़कर सिसक रहा था। वह उसी की लड़की थी। वह वहाँ न रह सका। लड़की के पास भी न जा सका। बिना अनुमति लिये वह वहाँ से उठकर चला गया। उसे यह भी ज्ञान न था कि वह कहाँ जा रहा था, क्यों जा रहा था, हत्-बुद्धि-सा था।

गुफा तक गया। वहाँ भी न रह सका। कृष्णा नदी के पास गया। वहीं अकेला रेती में पड़ा, कभी रोता, कभी ओंठ मींचकर बैठ जाता। फिर पानी में कंकड़ फेंकता। कराहता-कराहता चिल्लाता—"पुष्पवल्ली! पुष्पवल्ली!" नदी में कोई तरंग उठती, जैसे उसने उसकी पुकार सुन ली हो, तरंग बह जाती, वह फिर-चिल्लाता–"पुष्पवल्ली! पुष्पवल्ली!" घने वन में उसकी दर्द-भरी, प्रेम-भरी, पश्चात्ताप-भरी आवाज़ व्यर्थ गूंज कर रह जाती।

४५

वह रात भर तड़पता कराहता रहा। गुफा के एकान्त में वह जाने क्या बकता रहा। पुष्पवल्ली की सारी जीवनी उसके सामने कृष्णा नदी की तरह बहने लगी। वह चुलबुली लड़की, मुँहफट, गन्दी बदचलन लड़की, लजीली, ईर्ष्यालू प्राथिन, होशियार, आदर्श पत्नी, माता,······ आत्म-हत्या।

आँखें बन्द करता तो पुष्पवल्ली ही दीखती। उसको समझाती लगती। विश्वास दिलाती, ढाढ़स बँधाती, उसे ऐसा लगता जैसे वह कह रही हो। "नहीं, तुम्हारा कोई दोष नहीं है, तुमने वही किया जो हर पति उस अवस्था में करता है, क्षमा का प्रश्न ही नहीं उठता।"

अग्निवर्मा आँखें मलकर और ज़ोर से मींच लेता, पुष्पवल्ली फिर आती, मानो बच्ची को गोद में लेकर "मैं नहीं हूँ, मैं जहाँ भी हूँ, सुखी हूँ, मेरा फिक्र न करो। लड़की है, कहीं होगी ही, पता लगाओ, उसे सुखी बनाओ। तुम्हारी तपस्या सफल होगी, जो मैंने वर्षों पहिले उस कुटिया में देखा था अब सारा संसार देखेगा, वाह-वाह करेगा। तुम्हारी प्रतिभा की प्रशंसा होगी।"

उसने लम्बी साँस ली, इस तरह मानो उसका गला रुंध गया हो, और साँस न ले सका हो। उसने आँखें खोल दीं, रात्रि के अन्धकार में उसको मैत्रेयी की मूर्ति चमकती-सी लगी। वह उसे देख न सका, देखना भी न चाहता था।

वह पागल की तरह गुफा से निकल पड़ा। मैदान में जा बैठा। गाँव सोया हुआ था। पहाड़ भी सोते-से लगते थे। दूर पहाड़ी पर जहाँ आचार्य नागार्जुन रहते थे, पूर्ण अन्धकार था। केवल आकाश में कहीं-कहीं तारे जागते सुप्त संसार का पहरा देते-से लगते थे।

अग्निवर्मा वहाँ न बैठ सका। वह भी धीमे-धीमे पगडंडी से गाँव की ओर निकल पड़ा। उसे समय का ज्ञान न था। परवाह भी न थी। वह अपनी धुन में चलता जाता था। गाँव में कुत्ते भोंकने लगे, उसके पास तक आ, पहिचान-कर उसके साथ शान्त हो चलने लगे।

आचार्य नागार्जुन का आश्रम सोया हुआ था, सर्वत्र निर्भेद्य निस्तब्धता थी। कुछ भयावह-सी। वह आचार्य को जगाने का साहस न कर सका। वह बावड़ी की मुंडेर पर, सिर के नीचे हाथ धरकर आसमान की ओर देखने लगा।

"अगर आचार्य को पता लग गया कि वह लड़की जाने, आचार्य ने उसका नाम रखा होगा······वे क्या सोचेंगे? शायद सोचेंगे कि मैं अयोग्य हूँ। निर्मम, निष्ठुर, बेसमझ, बेअकल। हो सकता है मुझे काम भी न दें, नहीं मैं उनको सब बताऊँगा······कहते हैं, बड़े-बड़े पाप भी पश्चात्ताप से मिट जाते हैं।" अग्निवर्मा सोचता जाता था।

उसकी निगाह उस बावड़ी के पानी पर पड़ी, कहीं-कहीं हल्की चमक थी, कभी-कभी कोई चीज़ सतह पर आती तो धीमी-सी आवाज़ होती, फिर शान्ति। उस एकान्त में भी अग्निवर्मा निर्भय-सा पड़ा था।

"बौद्ध धर्म में लोग अच्छी स्त्रियों को छोड़कर चले गये हैं,······ उद्देश्य कुछ भी हो, पुष्पवल्ली का काम अनुचित था।······वे छोड़ कर गए हैं तो किसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए। मेरा क्या उद्देश्य था। पलायन, निरुद्देश्य त्याग? शायद नहीं,···खैर, मैं सब आचार्य से कह दूंगा। देखा जाएगा, काम देंगे, तो देंगे, नहीं तो लड़की को ले जाकर कहीं और ज़िन्दगी बसर करूंगा······पर क्या वे लड़की देंगे? क्या काम मिलेगा? क्यों नहीं? लड़की मेरी है। कारीगर को काम मिलता

हो है।" अग्निवर्मा सोचता जाता था। कितने ही सन्देह उठते, उनका वह निवारण करता, पर फिर भी सन्देह बने रहते।

वह प्रातःकाल की प्रतीक्षा कर रहा था। प्रातःकाल हुआ, वह मुंडेर पर आराम से सो रहा था, कहीं फिसल जाता तो सीढ़ियों पर से लुढ़कता-लुढ़कता बावड़ी के पानी में पहुँचा होता। भिक्षुओं ने उसे उठाया। वह हड़बड़ाता सीधे आचार्य के पास भागा। भिक्षुओं को उसकी हरकतों को देखकर आश्चर्य हुआ।

तब तक आचार्य नित्य कृत्य से निवृत्त होकर पीठिका पर बैठे थे। पास ही कुटिया में वह लड़की सो रही थी। अग्निवर्मा उसके मुँह की ओर ध्यान से देखता रहा। वह प्रतीक्षा न कर सका। वह आचार्य का ध्यान आकर्षित करने के लिए शब्द करने लगा।

आचार्य ने आँखें खोलीं। "आओ, इतने प्रातःकाल क्यों आना हुआ ?" उन्होंने पूछा।

"यूँ ही, आचार्य जी, इस लड़की का नाम क्या है ?" अग्निवर्मा ने पूछा।

"क्यों ? हमने इसका नाम यशोधरा रखा है, क्यों ?" आचार्य ने कुतूहल व्यक्त किया।

"यह मेरी लड़की है"

"अच्छा ?"

अग्निवर्मा ने अपनी सारी कहानी सुना दी। आचार्य को विश्वास हो गया। यशोधरा की शक्ल-सूरत अग्निवर्मा से मिलती थी, कहानी सुनाकर अग्निवर्मा बिलख-बिलखकर रोने लगा।

"मैं यशोधरा के बारे में काफ़ी चिन्तित था। यह आश्रम है। हम भिक्षु हैं। अपने काम में व्यस्त रहते हैं। उस बेचारी लड़की को उतना प्यार-वात्सल्य नहीं मिल रहा है जितना कि उसे मिलना चाहिए। अब आप मिल गए हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं है अगर आप उसका अच्छी तरह लालन-पालन कर सकें। यशोधरा का भी इसी में भला है।" कहते-

कहते आचार्य की आवाज़ मन्द पड़ गई। वह कंपने-सी लगी। उन्होंने आँखें बन्द करलीं। अग्निवर्मा भी उनकी ओर देख रहा था। उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। पर शायद वे खुशी के आँसू थे।

थोड़ी देर बाद आचार्य ने आँखें खोलीं।"

"क्या मुझे अब भी काम मिल सकेगा ?"

"कार्य और इसका क्या सम्बन्ध है ?" जीवन में ऐसी घटनाएँ होती ही हैं, आपने वही किया जो कोई और करता, काम की परवाह न कीजिए मिलेगा ही।"

अग्निवर्मा ने आचार्य के पाँव पकड़कर नमस्कार किया। "मेरी एक और प्रार्थना है, क्या मैं यहाँ यशोधरा के साथ रह सकूँगा ?"

हाँ, हाँ, जरूर इस तरह यशोधरा हम से दूर भी न होगी, आपके पास भी रहेगी, ठीक है।" आचार्य ने कहा। फिर सोचकर उन्होंने कहा, "आप कुछ देर बाद आइए, मैं इस बीच में यशोधरा से सब कह दूँगा, हो सके तो आप उसके एक सप्ताह बाद मिलिये। राजा परसों आ रहे हैं। सीधे वे गुफा के पास जाएँगे, हम भी आएँगे, आप वहीं मिलिए।" आचार्य ने कहा।

अग्निवर्मा वापिस गुफा न जा सका। उस गुफा से अब वह इस तरह दूर रहने की कोशिश कर रहा था जिस तरह वह मैत्रेयी के स्मरण से भाग रहा था।

वह गाँव में गया, लुहार के यहाँ मदिरा पीकर नशे में सो गया।

———

४६

सवेरे ही राजकर्मचारी गुफा के सामने जमा होने लगे। एक शामियाना तान दिया गया। रास्ते में से बड़े-बड़े पत्थर हटा दिए गए। राजा के दर्शनार्थ ग्रामवासी वहाँ एकत्रित हो गए।

भिक्षु धीमे-धीमे आ रहे थे। उनके साथ कई दर्शक भी थे। वह लुहार भी उपस्थित था। किन्तु अग्निवर्मा का कहीं पता न था, कोई उसकी खोज भी करता नज़र नहीं आता था।

निश्चिय समय पर आचार्य भिक्षुओं सहित आ गए। वे पीठिका पर बैठ गए। उनके साथ यशोधरा भी थी। राजा के आने का समय हो गया था। लोगों में खलबली मची, शोर-शराबा अग्निवर्मा तक भी पहुँचा। वह एकाकी कृष्णा नदी के तीर पर प्रार्थना करता-सा बैठा था।

वह भीड़-भड़ाके से दूर रहता था। एकान्त में एकाकी रहने का आदी हो गया था। गुफा के पास भीड़ जमा होती देख वह चला आया था। वह न जाने क्यों सिसकता आता था।

अग्निवर्मा को देखकर आचार्य ने उसको अपने पास बिठाया, उसकी बगल में यशोधरा थी। यद्यपि वह उसकी निरन्तर देख रहा था तो भी वह किसी और को देखती लगती थी। उसने दो-चार बार मुस्कराकर उसका ध्यान आकर्षित भी किया पर वह कुछ नहीं बोली। उसने सोचा कि आचार्य ने शायद अभी तक उसके बारे में बातचीत न की होगी। वह जिन आँसुओं को मुश्किल से रोके हुए था, एकाएक बाँध लाँघकर

झर पड़े। उनसे मुँह फेरकर आँसू पोंछ लिये। देखने वालों ने देख लिया था और वे अचरज में थे।

सब को यह जानकर आश्चर्य हो रहा था कि राजा पहिली बार-किसी कलाकार के गौरवार्थ राजधानी से बाहर आए थे। उस सीधे-सादे कलाकार को देखकर वे विस्मित थे।

भेरियाँ और शंख बजने लगे। लोगों की नजर रास्ते की ओर गई। राजकर्मचारी आ रहे थे, उनके पीछे छत्र का उपरला सुवर्ण भाग चमक रहा था। धीमे-धीमे राजा की भव्य मूर्ति ऊपर आई। उनको देखते ही एकत्रित जन में जयजयकार की तुमुल ध्वनि हुई, राजा ने नतमस्तक हो प्रजा का अभिवादन किया।

आचार्य ने स्वयं उठकर उनकी अगवानी की। राजा ने उनको साष्टांग किया। शामियाने में राजा अपने उन्नत स्थल पर आसीन हुए। आचार्य उनके एक तरफ थे, और आचार्य के पास अग्निवर्मा के लिए आसन था। किन्तु वह आसन के पीछे निरीह-सा खड़ा था।

आचार्य ने अपनी गम्भीर ध्वनि में प्रार्थना की। सभा का कार्य-क्रम शुरू हुआ। आचार्य ने स्वयं अग्निवर्मा का परिचय दिया। "बौद्ध धर्मावलम्बी भिक्षु निरन्तर देश-देशान्तरों का पर्यटन करते-रहते हैं। पर्यटन उनकी साधना का एक अंग है। उनके निवासार्थ कई जगह विहार हैं। पर उनको यहाँ रहने की ठीक जगह नहीं मिलती। वे जन-समुदाय, या ग्राम, या जनपद में नहीं रह पाते।

"अग्निवर्मा ने प्रथम गुफा का निर्माण करके यह सूचित किया कि भिक्षु अपने कठिन नियमों का पालन करते हुए गुफाओं में रह सकते हैं। गुफाओं में रहने से उनको अपने मनन और साधना में विशेष सहायता भी मिलेगी। अग्निवर्मा इस दिशा में मार्गदर्शक हैं।

"विहार स्थायी हैं, पर पहाड़ जितने नहीं। प्राचीन काल से हमारे कलाकार स्थायी माध्यम का अन्वेषण करते आए हैं, पत्थर उनके अन्वे-षण का परिणाम हैं। पर पहाड़ पत्थर से भी अधिकस्थायी है। और

उन्होंने अपने कार्य से यह निरूपित कर दिया है कि पहाड़ भी कलाकार का उचित माध्यम हो सकता है।" सभा में करतल ध्वनि हुई।

"मन्दिर हिन्दू धर्म के प्रतीक हैं, और गुफा बौद्ध धर्म की। मन्दिर वहिर्मुखी चिन्तन के, पार्थक्य के सूचक हैं, और गुफा अन्तर्मुखी विचार का। यह वस्तुतः बौद्ध धर्म के अनुरूप चिन्ह हैं।"

इसके बाद राजा ने अपना भाषण किया। "यह पहिली बार है जबकि मैं कलाकार के सम्मानार्थ राजधानी से निकला हूँ, और मुझे इसका विशेष सन्तोष है। श्री अग्निवर्मा को सम्मानित करते हुए मैं अपने को सम्मानित पाता हूँ। यह मेरे लिए गर्व का विषय है कि मेरे राज्य में इतना महान् कलाकार है, आचार्य को ही इसका श्रेय है। उनकी कृपा से ही ये हमारे ध्यान में आ सके।

"यह राजा का धर्म है कि राज्य में प्रचलित धर्मों को वह प्रोत्साहित करे, राजधर्म यही है कि राजा प्रजा के धर्म का अनुसरण करे। धर्म के नाम पर न भेद-भाव होना चाहिये, और न होगा। सभी धर्म राजा की दृष्टि में समान हैं; जो प्रजा का धर्म है वही राजा का धर्म है; राजा सर्वधर्मावलम्बी है। सभी धर्मों को राजा का प्रोत्साहन पाने का समान अधिकार है···। आचार्य नागार्जुन ध्यान से राजा की तरफ़ देख रहे थे। उनके पीछे खड़े आर्यदेव दो-तीन भिक्षुओं को सचेत करते-से-लगते थे।

"हम धन्यकटक में कई मन्दिर बनवा रहे हैं। उस काम के लिए एक ऐसे कलाकार को नियुक्त किया गया है, जिन्होंने नगर के श्रेष्टि वर्ग के लिए एक मन्दिर तैयार किया था। उनका नाम कीर्तिवान है। आप परिचित ही होंगे···राजा कह रहे थे और अग्निगर्मा उनकी ओर घूर रहा था, उसे कुछ समझ में न आ रहा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि लोग केवल अनुकरण और तिकड़मबाजी से भी संसार में सफल हो जाते हैं। पर वह सोच ही रहा था कि राजा घोषणा करने लगे—

"अब हमारा विचार है कि इसी स्थल पर एक विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय, जहाँ बौद्ध धर्म की शिक्षा नियमित रूप से दी जा

सके आचार्य के दिग्दर्शन में इस समय भी अध्ययन और अध्यापन का कार्य हो रहा है, पर उनको अब राज्य की तरफ से सब सुविधाएँ दी जाएँगी। भवन निर्माण, गुफा आदि का निर्माण, श्री अग्निवर्मा आचार्य की आज्ञा पर करेंगे।"

राजा यह घोषणा करके बैठ गए।

राजा और आचार्य ने अग्निवर्मा से बोलने का अनुरोध किया।

अग्निवर्मा अपने आसन के सामने खड़ा हो गया। वह काँप रहा था। उसने कुछ बोलना चाहा, पर बोल न पाया। गला भर आया। आँखें आँसू बरसाने लगीं। उसने कठिनाई से कहा—"धन्यवाद !" और वह अपने आसन पर बैठ गया, सभा विसर्जित हुई।

× × ×

गुफा के निरीक्षण के बाद उस दिन राजा ने वहीं शामियाने में विश्राम किया। आचार्य भी उनके पास थे। राजकर्मचारी दूर खड़े थे। अग्निवर्मा ने गौर से चारों ओर देखा, वह मूँछों वाला व्यक्ति वहाँ न था, जो सालों से उसके मन में भिन्न-भिन्न रूपों में आ रहा था।

"मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।" अग्निवर्मा ने राजा से विनयपूर्वक अनुमति ली।

"हाँ, कहिए।"

"मैं कभी धन्यकटक में काम करने के सपने लेकर पश्चिमी तट से चला था, अब वह कार्य कई वर्षों के बाद, अनेक कठिनाइयों के झेलने के बाद पूरा हो रहा है," अग्निवर्मा ने एक-एक करके उन सारी घटनाओं को सुना दिया, जिनका उसके जीवन से सम्बन्ध था।

"पर एक और काम है, जिसको पूरा करने की जिम्मेदारी भी मुझ पर है। आपकी कृपा से वह भी पूरा हो गया तो मैंने अपने को धन्य समझूँगा।" अग्निवर्मा ने कहा।

"कहिए।" राजा ने अनुमति दी।

उनका नाम देववल्लभ है, वे आपके बाप-दादाओं के दरबार में प्रतिष्ठान में काम करते थे। स्मरण होगा ?"

"हाँ, हाँ स्मरण है।"

"उनकी पत्नी मुझे राह में मिली थी वे शायद आपसे नहीं मिल सकीं।"

"नहीं तो।"

"वह वयोवृद्धा, मातृतुल्या बुढ़िया अपने पति के विश्वासघात के लिए क्षमा माँगने आ रही थी। मुझे विचित्र परिस्थितियों में उनका साथ छोड़ना पड़ा, पर मैंने वचन दिया था कि यदि मैं धन्यकटक कभी पहुँचा तो राजा के समक्ष उसकी तरफ से अवश्य क्षमा माँगूंगा। आप कृपया उसे क्षमा कीजिए।" अग्निवर्मा ने प्रार्थना की।

"वह तो अपराधिनी ही न थी। फिर भी वह क्षम्य है। भाग्य ने वह विजयश्री भी दे दी है, जो हम से छीन ली गई थी। मैं उसको क्षमा करता हूँ। चाहे वह मृत हो या जीवित।" राजा ने कहा। आचार्य भी अग्निवर्मा को देखकर मुस्कराए।

अग्निवर्मा का दिल हल्का हो गया। वह दो-चार फूल बुढ़िया की मूर्ति पर भक्ति और कृतज्ञतापूर्वक चढ़ा आया।

अग्निवर्मा ने आचार्य नागार्जुन की देख-रेख में कई गुफाएँ बनाईं। कई भवन और छात्रावासों का निर्माण किया।

आचार्य नागार्जुन का देहान्त हो गया। उनका विश्वविद्यालय देश-विदेश में प्रसिद्ध हुआ। वह विश्वविद्यालय उनका स्मारक बन गया। वह नागार्जुनकोण्डा कहलाया।

अग्निवर्मा यशोधरा के साथ रहता था। यशोधरा अपने समय की लब्धप्रतिष्ठ गायिका थी। लोगों का कहना है कि गुफाओं में, या अन्यत्र जहाँ-जहाँ अग्निवर्मा ने स्वयं काम किया, स्त्रियों की आकृतियाँ दो प्रकार की हैं—या तो वे पुष्पवल्ली की तरह हैं, नहीं तो यशोधरा की तरह अग्निवर्मा ने उनकी स्मृति को अमर कर दिया।

कहा जाता है कि आचार्य नागार्जुन के देहान्त के बाद अग्निवर्मा उस पर्वत शृंखला में गया जहाँ अजन्ता और एलोरा की प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। वहाँ भी कार्य का श्रीगणेश उसी ने किया। वहाँ से वह नासिक की ओर चला गया।

अग्निवर्मा कभी भिक्षु न बना, उसने बुद्ध की जन्म की घटनाओं को पत्थरों पर कला की भाषा में खोदा, पर वह न बौद्ध बना, न हिन्दू ही। उसकी अवैयक्तिक भक्ति ने वैयक्तिक भक्ति को स्थिर आधार दिया। महायान को उसकी कला ने गति प्रदान की।

यह गृहस्थी भी न था। उसको लोग धन्य भिक्षु के रूप में जानने

लगे। उसका धन्य जीवन अन्य कलाकारों के लिए आराध्य हो गया। वह मनुष्य से आदर्श हो गया। पत्थर से मूर्ति बन गया।

× × ×

वह नागार्जुनकोण्डा जल-मग्न है। जहाँ कभी पहाड़ था आज वहाँ सागर है। नागार्जुन सागर है। पहाड़ अपने आदि रूप में हैं।

बौद्ध काल का वह अवशेष जहाँ भारत की भव्य मूर्ति-कला प्रस्फुटित हुई थी, आज टुकड़ों-टुकड़ों में संसार के अजायबघरों में बिखरी पड़ी है।

धन्यकटक का वह धन्य नगर इतिहास की पुस्तकों में नाममात्र रह गया है।

कृष्णा नदी जो तब थी और अब भी है, पुष्पवल्ली और अग्निवर्मा की स्मृति को तरंगित करती-सी आहें भरती है। जो कभी रक्त-धमनी सरिता थी, आज रक्त-जननी हृदय-सी है, सरोवर-सी।

नागार्जुनकोण्डा का चलता इतिहास, अब नागार्जुन सागर के पूर्ण विराम में समाप्त हो गया है।